UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186744
UNIVERSAL
LIBRARY

विश्व-शान्ति परिषद् समिति,
शान्ति-निकेतन, भारत
१-८-४६

विश्व के शान्तिवादियों की जो परिषद् दिसम्बर १९४९ में भारत में बुलायी गयी है उसकी व्यवस्थापिका समिति ने श्री रंगनाथ दिवाकर को एक विशेष पुस्तक तैयार कर देने का आह्वान किया है जिसमें उन विशिष्ट अवसरों का विवरण हो जिन पर महात्मा गाँधी ने अहिंसा और सत्याग्रह के युद्ध छेड़े थे। श्री दिवाकर ने बहुत थोड़े समय में यह पुस्तक तैयार की है जो विश्व-शान्ति परिषद् के तत्त्वाधान में प्रकाशित हो रही है।

होरेस अलेग्जेण्डर
अध्यक्ष

सत्याग्रह और विश्व-शान्ति

इस युग के दधीचि

(चित्रकार—नन्दलाल बसु)

सत्याग्रह और विश्व-शान्ति

रंगनाथ दिवाकर

प्रगति प्रकाशन
नई दिल्ली

प्रकाशक—
प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स,
१४-डी, फ़ीरोजशाह रोड,
नई दिल्ली

एक रुपया बारह आना

मुद्रक—
श्यामकुमार गर्ग,
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली

अनुक्रम

	भूमिका	६
	परिचय	११
१.	सत्याग्रह का महत्त्व	१५
२.	सत्याग्रह का उदय	२३
३.	कानून बनाम विवेक	३६
४.	मजदूरों की विजय	५३
५.	किसानों का जागरण	५६
६.	सामूहिक सत्याग्रह का पाठ	६५
७.	स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रह	७१
	सहायक ग्रन्थ	६५

"आप मुझे सत्याग्रह की दशा में अपनी क्रियाशीलताएँ बन्द कर देने के लिए कहें तो वह मेरे जीवन को समाप्त कर देने के समान होगा। यदि मैं पशुबल के स्थान पर आत्मिक-शक्ति के उपयोग को व्यापक रूप दे सकूं, तो मैं जानता हूँ कि मैं आपको ऐसा हिन्दुस्तान (बना) दे सकता हूँ जो सारे संसार को चुनौती दे सकता है। मैं कष्ट-सहन के इस अनन्त विधान को अपने जीवन में व्यक्त करने के अनुशासन का पालन करूँगा, और इसे उन लोगों को भेंट करूँगा, जिनमें इसे ग्रहण करने की चाह है, और यदि मैं दूसरी क्रियाशीलताओं में भाग लेता हूँ, तो इसका ध्येय यही है कि वह विधान अद्वितीय रूप में उत्कृष्ट है।"—*१९१७ में युद्ध-प्रयत्न सम्बन्धी एक वक्तव्य से गांधीजी।*

भूमिका

इस पुस्तक में श्री रंगनाथ दिवाकर ने महत्त्वपूर्ण सत्याग्रह-आन्दोलनों में से कुछ ऐसों का संक्षिप्त वर्णन किया है जो या तो महात्मा गांधी द्वारा अथवा उनके पथ-प्रदर्शन में संचालित हुए हैं। गांधीजी अपने २१ वर्ष के दक्षिण-अफ्रीका-प्रवास के बाद १९१५ में भारत लौटे थे। दक्षिण-अफ्रीका में ही उन्होंने बुराई के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध के अद्भुत और अद्वितीय अस्त्र की शैली—टेकनीक की खोज और विकास का काम किया था और उसे 'सत्याग्रह' का नाम दिया था। सत्याग्रह सक्रिय-प्रतिरोध से बुनियादी तौर पर भिन्न इसलिये होता है कि वह सैद्धान्तिक रूप में हिंसा का किसी भी रूप में इसलिये परित्याग नहीं करता कि वह कमजोरी या अशक्तता के कारण हिंसात्मक प्रतिरोध के योग्य नहीं होता। यह अन्तर उन सभी आन्दोलनों में प्रकट हुआ था जिनका प्रारम्भ और नेतृत्व गांधीजी ने किया था। सत्याग्रही का ध्येय यह नहीं होता कि वह विरोधी को परेशान करके उससे अपनी मांगें मनवा लेने को बाध्य करे बल्कि उससे अपना दृष्टिकोण मनवा ले जिससे कि वह (विरोधी) अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही उस (सत्याग्रही) के दृष्टिकोण को अपना ले। इसीलिये प्रत्येक सफल सत्याग्रह का स्वाभाविक परिणाम बिना कोई कटुता

पीछे छोड़ उद्देश्य की प्राप्ति है और इस प्रकार यह (सत्याग्रह) प्रतिरोधी और विरोधी दोनों ही के लिए आशीर्वाद-स्वरूप है। जिस दिन से महात्मा गांधी ने भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने का आन्दोलन आरम्भ किया तब से यह आन्दोलन पचीस वर्ष से भी अधिक चला और तब कहीं जाकर भारत को बृटेन से स्वतन्त्रता मिल सकी है। देश ने मुख्य रूप से उनके अहिंसात्मक प्रतिरोध के कार्यक्रम का अनुसरण किया है। यद्यपि किसी-किसी अवसर पर भूल-चूक भी हुई है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस लम्बी अवधि में आवेश के कारण उपस्थित होने पर भी, देश में बड़े पैमाने पर खून-खराबी हुई है। अन्ततः बृटेन को सारे अधिकार भारतीयों को हस्तान्तरित करके इस देश से चले जाने की बात स्वीकार कर लेनी पड़ी और इस प्रकार इस बात का एक भव्य और चमत्कारपूर्ण उदाहरण उपस्थित हो गया कि अहिंसा किस उद्देश्य और अप्रकट रूप में ऐसी परिस्थितियों में भी सफलता प्राप्त करती है जब सभी कुछ समाप्त हुआ प्रतीत होता है। एक राष्ट्र के रूप में बृटेन भी हिन्दुस्तानियों की अपेक्षा इस बात से कम प्रसन्न नहीं है कि एक ऐसे संघर्ष का सुखद अन्त हुआ है जो अपने नेता ही के समान ही अद्वितीय था। इस पुस्तक के द्वारा पाठक सत्याग्रह की शैली और उसकी क्रिया का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु अधिकतर सूचना और विवरण प्राप्त करने के लिए लेखक के विस्तृत ग्रन्थ और महात्मा गांधी की पुस्तकों और लेखों का सहारा आवश्यक रूप में लेना पड़ेगा। साथ ही इस पुस्तक के सहायक ग्रन्थों में जिन पुस्तकों के नाम दिये गये हैं उनसे सहायता ली जा सकती है।

नई दिल्ली,
२५-१०-४६

राजेन्द्रप्रसाद

परिचय

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है पाठक को स्वयं महात्मा गांधी के नेतृत्व और संचालन में चलाये गये सत्याग्रह आन्दोलनों की रूपरेखाओं से परिचित कराना। इसके द्वारा पाठक झगड़ों और संघर्षों से निबटने के गांधी-मार्ग के क्रियात्मक ढंग को समझ सकेंगे। मैं 'रूपरेखाओं' की ही बात इसलिए करता हूँ कि इतने छोटे स्थान में आन्दोलनों की पूरी कहानी नहीं दी जा सकती। इन आन्दोलनों में से अधिकांश के बारे में पृथक् पुस्तकें हैं और सहायक ग्रन्थों में मैंने ऐसी पुस्तकों के नाम दे दिये हैं। जिन लोगों में उत्सुकता है और वे इस विषय का अध्ययन अच्छी तरह करना चाहते हैं उन्हें उनसे मदद लेनी पड़ेगी।

निस्सन्देह मैंने इसमें वीरमगांव-कर-विरोधी आन्दोलन-जैसे संघर्षों को सम्मिलित किया है यद्यपि वे भी सत्याग्रह के सिद्धान्तों पर ही आधारभूत थे। यह इसलिए कि मैंने अपने को केवल उन्हीं संघर्षों तक सीमित रखा है जिनका सम्बन्ध बड़ी संस्थाओं या जन-समूह से रहा है। मैंने गांधीजी के ऐसे अनशनों और सत्याग्रह को भी इसमें सम्मिलित नहीं किया जो व्यक्तिगत ढंग के थे, यद्यपि वे थे सार्वजनिक-हित के लिए—हाँ, उनका सम्बन्ध सर्वसाधारण या दलों और समूह से नहीं था

मैंने संक्षेप में प्रासांगिक और तथ्यपूर्ण ढंग से ही इन घटनाओं का समझ में आने-योग्य चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। किन्तु मैं गांधीजी के व्यक्तित्व और उनके विशिष्ट गुणों को इन परिच्छेदों में उभरने से नहीं दबा सका हूँ। भला मैं ऐसे सम्पन्न और आकर्षक व्यक्तित्व को दिखाने से कैसे रोक सकता था जिसके क्रियाकलाप का मैं वर्णन कर रहा था? इसके अतिरिक्त मैं इस प्रकार के रोक का औचित्य कैसे मान सकता था जब कि वह और उनके निमित्त दोनों ही घनिष्ट रूप में व्यक्तित्वपूर्ण थे। ऐसे मामलों में व्यक्ति और उसके उन क्रियाकलापों का हम विच्छेद नहीं कर सकते जो उसके अस्तित्व के अंग हैं। मैं समझता हूँ कि यदि मैं उनके व्यक्तित्व को इस पुस्तक में छिपाये रहने में सफल होता तो यह अधिक शुष्क होती।

सत्याग्रह की इन कहानियों की रूपरेखाओं को समुचित पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए मैंने सत्याग्रह के सिद्धान्तों और महत्वों का संक्षिप्त वर्णन पहले परिच्छेद में किया है। पाठक को इस विषय का विस्तृत वर्णन मेरी दूसरी पुस्तक 'सत्याग्रह : इतिहास और शैली' में मिलेगा जिसका भारतीय संस्करण हिन्द किताब्स, बम्बई ने और अमरीकन संस्करण 'सत्याग्रह : सत्य की शक्ति' ह्यूमनिस्ट लाइब्रेरी सीरीज ने प्रकाशित किया है। मुझे आशा है कि इस पुस्तक के पहले परिच्छेद के साथ ये संक्षिप्त कहानियां पढ़कर पाठक यह अनुभव करेगा कि गांधीजी जिस बात का उपदेश देते और अमल करते थे वह केवल भारत और उसकी स्थिति के लिए ही लागू नहीं होता था प्रत्युत् वह इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर संसार के किसी भी भाग में दुहराये जाने की क्षमता रखता है। सत्याग्रह अपने प्रयोग के लिए किसी भौमिक या भौगोलिक स्थिति पर अथवा राजनीतिक विचार पर नहीं निर्भर करता, प्रत्युत् यह तो मानव स्वभाव

और मानव मनोविज्ञान की आध्यात्मिकता पर निर्भर करता है।

यद्यपि आरम्भ से ही गांधीजी को सत्याग्रह के नये अस्त्र की शक्ति का पूर्णतः ध्यान था, फिर भी इन्होंने उसके प्रयोग एक वैज्ञानिक विधि से किये। उनमें अचूक विश्वास और अपार धीरज था। उन्हें ध्येय और साधन के बारे में कभी भ्रम नहीं हुआ था और उनका सदा यह विश्वास रहा है कि नैतिक साधनों द्वारा ही नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। यही उनकी प्रणाली के पूर्ण विकास का रहस्य था। वे इसे प्रायः 'सत्याग्रह-विज्ञान' और 'सत्याग्रह-कला' कहा करते थे।

यह दुःख की बात है कि गांधीजी को कुछ खास परिस्थितियों में सत्याग्रह के प्रयोग का समय और अवसर नहीं मिला। ये परिस्थितियां थीं—सशस्त्र आक्रमण का अहिंसात्मक विरोध अथवा दो राष्ट्रों के बीच अहिंसात्मक हस्तक्षेप। अब यदि नयी पीढ़ी का विश्वास इस साधन में है तो उसे इन प्रयोगों को आगे चलाना चाहिये।

यह तो स्पष्ट है कि वर्तमान अवस्था में सरकारों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अहिंसा पर आधारभूत हों। यदि अहिंसा या सत्याग्रह की प्रगति होती है तो यह उन्हीं ढंगों पर, दलों और समाजों के संगठन से हो सकती है। केवल इसी प्रकार इस सिद्धान्त के विकास का प्रयत्न सम्भव है। सत्याग्रह धार्मिक प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों और सन्तों के लिये चारित्रिक कसौटी बन गया, और गांधीजी ने दिखा दिया कि इसे दलों और सम्पूर्ण जनता तक व्याप्त किया जा सकता है, और अब एक समय आ सकता है जब राष्ट्र और राज्य इस सिद्धान्त पर संगठित हो सकते हैं।

गांधीजी नये प्रयोगों से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करके चले

गये। वे हमारे लिए ऐसे क्षेत्र के प्रयोगों की देन छोड़ गये हैं जो अब तक अज्ञात था। अब उन लोगों को, जो धरती पर शान्ति और मनुष्य में शुभेच्छा का नवसंचार करना चाहते हैं, चाहिए कि उन प्रयोगों का अध्ययन वैज्ञानिक समझ के साथ करें और इस नये नैतिक अस्त्र का परीक्षण सभी प्रकार की बुराइयों का विरोध करने में करें। यद्यपि वह प्रकाश जो हमारे मार्ग का अब तक प्रदर्शक रहा है, इस संसार में अब दीप्त होता नहीं दिखायी दे रहा है, पर उसने अपने पीछे जो प्रकाश छोड़ दिया है वह कोटि-कोटि जनता का दशाब्दियों तक मार्ग दर्शन करता रहेगा।

५, सफदरजंग रोड, नई दिल्ली,
१५ अक्तूबर, १९४९

रंगनाथ दिवाकर

सत्याग्रह का महत्व

'सत्याग्रह' एक ऐसा शब्द है जिससे हम काफी परिचित हो चुके हैं। क्रियात्मक रूप से यह शब्द गाँधीजी के नाम का पर्यायवाची बन गया है। सबसे पहले १६०६ ई० में गाँधीजी ने ही इस शब्द का प्रयोग अहिंसात्मक-प्रतिरोध-आन्दोलन के अर्थ में किया जिसका नेतृत्व उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के अन्याय और भेदभावपूर्ण कानून के विरुद्ध किया था। उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि उनका आन्दोलन निष्क्रिय प्रतिरोध से सारूप में भिन्न है इसीलिए उन्होंने यह नया शब्द रचा। पाश्चात्य देशों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 'निष्क्रिय-प्रतिरोध' का जो अर्थ समझा जाता है, और जैसा हम अब समझते हैं, वह एक दुर्बलों, निःशस्त्रों और असहायों का अस्त्र है। वहाँ हिंसा का परित्याग सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि हिंसा के साधनों के अभाव में या केवल जरूरत के कारण किया जाता है। वह अस्त्र का प्रयोग उस अवस्था में कर सकता है जब वे प्राप्य हों या जब सफलता का युक्तियुक्त अवसर हो। निष्क्रिय-प्रतिरोध सशस्त्र-प्रतिरोध की तैयारी में या उसके सहयोग में भी हो सकता है। इसका भीतरी उद्देश्य शत्रु को परेशान करना होता है और इस प्रकार यह उसे क्रियाकलाप के अभीष्ट मार्ग का अनुसरण करने के लिए बाध्य करता है। उसमें प्रेम के लिए तो कोई स्थान है ही

नहीं । इसका प्रयोग हम अपने निकटतम के विरुद्ध इसलिए नहीं कर सकते, कि इसका आधार घृणा और अविश्वास पर होता है। इसमें रचनात्मक क्रियाशीलता के लिए कोई स्थान नहीं होता । यह कोई जीवन दर्शन नहीं है।

इसके विपरीत सत्याग्रह एक प्रेम का विधान है, सभी के लिए प्रेम का मार्ग है। वह सभी परिस्थितियों और सभी रूपों में सिद्धान्त-रूप में हिंसा का पूर्ण परित्याग करता है। वह किसी भी प्रकार की ऐसी हिंसापूर्ण क्रियाशीलता के साथ कदापि नहीं चल सकता जिसमें व्यक्ति और सम्पत्ति की क्षति सम्मिलित हो। इसके पीछे यह भावना है कि विरोधी का विनाश न हो और न वह परेशान किया जाय, बल्कि आवश्यक होने पर सहानुभूति, धैर्य और कष्टसहन के द्वारा उसका मत-परिवर्त्तन किया जाय अथवा उस पर विजय प्राप्त की जाय। सत्याग्रह सभी बुराइयों से संघर्ष करते हुए और उनमें कदापि समझौता न करके भी बुराई करनेवाले तक प्रेम के द्वारा पहुँचना है। सत्याग्रही को मानव स्वभाव और उसकी अच्छाइयों में अनन्त विश्वास होता है। अस्त्र के रूप में सत्याग्रह का उपयोग अपने निकट और प्रियतम के विरुद्ध भी किया जा सकता है। वह (सत्याग्रह) प्रेम के कारण अमल में लाया जाता है और प्रेमपात्र के लिए अधिकतम मात्रा में कष्टसहन करने की इच्छा रखता है। सत्याग्रही जब संघर्ष में नहीं लगा होता तो वह रचनात्मक सामाजिक क्रियाशीलता में सेवा और त्याग के चाव में लगा रहता है।

गाँधीजी के हाथों में सत्याग्रह जीवन-दर्शन और जीवन-मार्ग के रूप में विकसित हुआ है। एक सत्याग्रही के लिए सत्य सर्वोत्कृष्ट ध्येय है और प्रेम एकमात्र सर्वोच्च साधन । प्रेम साररूप में अभिन्नता के अनुभव का भावात्मक परिणाम है। यह प्रेम के उद्देश्य के साथ एकता के अनुभव का उत्तर-परिणाम है।

गाँधीजी के लिए सभी जीव एक और पवित्र थे। वे कहते थे कि किसी भी जीव को कष्ट पहुँचाने का मतलब है अपने को और स्वयं भगवान को दुःख देना। सभी जीवों के साथ अभिन्नता का उनका अनुभव इसी प्रकार का था। आलडुस हक्सले ने अहिंसा की व्याख्या सभी जीवों की बुनियादी एकता के क्रियात्मक परिणाम के रूप में की है। इस एकता की अनुभूति से स्वाभाविकतया सम्मिलन-क्षम जीवन का विकास होता है। सत्याग्रह जीवन-मार्ग के रूप में कोई एक क्रिया या क्रियासमूहों की बन्धन-रज्जु नहीं है, बल्कि वह एक आन्तरिक भाव और अस्तित्व का सहन-क्षम स्वरूप है। यह प्रत्येक वस्तु में अहिंसा, प्रेम-विधान, और आवश्यकता हुई तो कष्टसहन, के द्वारा सत्य की अनवरत खोज है, प्रेम प्रायः निष्काम-सेवा का रूप धारण कर लिया करता है क्योंकि यह उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, और उसके परिणामस्वरूप जो आनन्द और मुग्धता प्राप्त होती है वही उसकी सम्प्राप्ति है।

यहाँ हम सत्याग्रह के नैतिक अस्त्र के रूप पर विचार करते हैं जो सभी बुराइयों से संग्राम करने और कृत-संकल्प संघर्षों के उपाय के रूप में काम आता है; जिससे शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता। हम युगों से इससे परिचित हैं—यह आत्मरक्षा के लिए—विशेष रूप में धार्मिक क्षेत्र में काम लाया जाता रहा है। किन्तु सिद्धान्ततः और सामूहिक रूप में अन्याय के विरुद्ध इसका प्रयोग कुछ अभिनव और मौलिक है। सत्याग्रही मानव-स्वभाव की बुनियादी भलाई में विश्वास करता है और सदा यह आशा रखता है कि मनुष्य की विवेक-बुद्धि जाग्रत होगी। उसे कष्टसहन और त्याग के प्रति अनुकूल मानवीय प्रतिक्रिया का निश्चय होता है। उसका प्रेम के विधान में उतना ही विश्वास होता है जितना गुरुत्वाकर्षण के विधान में होता है।

मनुष्य और मनुष्य के बीच संघर्ष में जो पाशविक हिंसा के ढंग काम में लाये जाते हैं निश्चय ही सत्याग्रह उसका स्थान लेने के लिए है। यह सत्य पर आधारभूत है, अहिंसा के द्वारा परिचालित होता है और यह नैतिक दबाव के द्वारा विरोधी के हृदय-परिवर्त्तन के रूप में अपना ध्येय प्राप्त कर लेता है। जो इसका प्रयोग अस्त्र के रूप में करना चाहते है उन्हें कम-से कम इसमें क्रियात्मक विश्वास तो होना ही चाहिए। यह प्रणाली अन्य सभी ढंगों की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्ण है। इसका उपयोग कैसी भी प्रतिकूलता में किया जा सकता है—चाहे विरोधी शारीरिक दृढ़ता और हिंसा-कौशल में कैसा ही निष्णात् क्यों न हो। आप शारीरिक दृष्टि से चाहे कैसे ही दुर्बल क्यों न हों और हिंसा के उपयोग से बिलकुल ही अनजान क्यों न हों, फिर भी यदि आप निडर हैं और आप में दृढ़ संकल्प-शक्ति है तो आप संसार के सर्वाधिक शक्तिशाली से भी लोहा ले सकते है, और यह बात अकेले भी सम्भव है। संख्या का यहाँ कोई महत्व नहीं है। यह शुद्धतः नैतिक अस्त्र है और इसमें आपको संख्या-बल की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु यह तथ्य कि यह एक नैतिक अस्त्र है, प्रयोगकर्त्ता पर यह बन्धन लगा देता है कि वह इसका उपयोग अनैतिक उद्देश्य से या स्वयं दोषी होने की अवस्था में न करे। कोई भी व्यक्ति इसका प्रयोग आत्मशुद्धि के बाद ही आरम्भ कर सकता है। उदाहरण के लिए कोई दासों का स्वामी मानव श्रम के शोषण के विरुद्ध सत्याग्रह नहीं कर सकता और न कोई इसे सूदखोरी करने या अनुचित आर्थिक लाभ उठाने के लिए ही कर सकता है।

चूँकि सत्याग्रह बुराई का नाश करने के लिए है—बुराई करनेवाले का नाश करने के लिए नहीं, इसलिए वह सेवा और कष्ट-सहन के द्वारा विरोधी व्यक्ति के हृदय और समझ तक

पहुँच जाता है। सत्याग्रही इस बात को अपना कर्त्तव्य समझता है कि वह विरोधी का हृदय-परिवर्त्तन करके, उसे अपने विचार का बना ले; उसका नाश न करे। सत्याग्रही के विश्वास का यह उत्तर-परिणाम है कि वह स्वयं कष्ट-सहन करके विरोधी के भीतर बैठे मनुष्य को जगा दे। उसकी क्रियाशीलता की यह पहली शर्त है कि विरोधी का मन बदल जाय। सत्याग्रह विरोधी के प्रति अहिंसा-भाव की तो कभी कल्पना भी नहीं कर सकता। अहिंसात्मक-प्रतिरोध का सार यह है कि विरोधी के व्यक्तित्व को कोई हानि पहुँचाने का इरादा भी न रखे। सामान्यतः यही बात सम्पत्ति के बारे में भी कही जा सकती है। परन्तु सम्पत्ति के बारे मे कुछ अपवाद भी हो सकते हैं—उदाहरण के रूप में वह सम्पत्ति, जो समाज के लिए बिलकुल ही हानिकारक हो। शस्त्रास्त्र और शराब को इस प्रकार की सम्पत्ति समझा जा सकता है।

सत्याग्रह कोई व्यक्तिगत रूप में भी कर सकता है और दल या समूह के रूप में भी। उस समय यह पूछना व्यर्थ है कि सत्याग्रह-जैसा नाज़ुक और उच्च नैतिक अस्त्र—स्थूल, अशिक्षित और असंगठित जन समूह-द्वारा काम में लाया जा सकता है या नहीं। यह बात सहज बुद्धि की और इतिहास-सिद्ध है कि इसका उपयोग इस रूप में किया जा सकता है। दक्षिण अफ्रीका के अतिरिक्त भारत में बारडोली, सिद्दापुर, कांटाई और तामलुक के सत्याग्रह-संग्राम राष्ट्रव्यापी पैमाने पर चल चुके हैं, और वे उपर्युक्त बात के प्रमाण हैं। क्या संसार के और किसी भाग में ऐसे दरिद्र, निरक्षर और विनम्र लोग हैं जैसा कि भारत का जन-समूह है? फिर भी गत बत्तीस वर्षों में भारत विभिन्न अवसरों पर आधे दर्जन बार सामूहिक सत्याग्रह कर चुका है। इस अस्त्र का प्रयोग अभूतपूर्व पैमाने पर किया गया और

यह कारगर सिद्ध हो चुका है। इसीलिए अब यह सम्भव हो गया है कि इसके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन कर उससे वास्तविक लाभ उठाया जाय।

सत्याग्रह अन्तिम होते हुए भी शान्तिपूर्ण अस्त्रों में सबसे शक्तिशाली है। सभी उपाय—वैधानिक आन्दोलन आदि के समाप्त हो जाने पर सत्याग्रह की बारी आती है। यह हिंसात्मक सीधी कार्यवाही के स्थान पर आता है। यह तब आता है जब आमतौर पर लोग सदा की तरह हिंसात्मक संघर्ष ही काम में लाते हैं। असन्तोष, आक्रोश का वेग, निराशा की मात्रा और अन्तिम अस्त्र का उपयोग करने की अनिवार्यता सत्याग्रह में भी वही होती है जैसी हिंसात्मक संघर्ष में होती है।

सामूहिक सत्याग्रह न तो कोई नूतनता है न अज्ञात अस्त्र। यह भी बात नहीं है कि यह एक मानचित्रहीन दुर्गम सागरों की यात्रा हो। १६१६ ई० में ही गाँधीजी ने कहा था—"मेरी राय में सत्याग्रह का सौन्दर्य, उसकी क्षमता ऐसी महान् है और सिद्धान्त इतना सरल कि उसका उपदेश बच्चों तक को दिया जा सकता है। मैंने ऐसे हजारों पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को इस (सत्याग्रह) का उपदेश दिया है जिन्हें (दक्षिण अफ्रीका में) शर्तबन्द प्रवासी भारतीय कहते हैं, और उसका परिणाम बहुत-ही उत्तम हुआ है।" ('यंग इण्डिया' ५ नवम्बर, १६१६) और उन्होंने फिर लिखा—"कोई सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ले या नहीं, इस बात में सन्देह नहीं हो सकता कि सत्याग्रह का चाव जनता में व्याप्त हो गया है।" ('यंग-इण्डिया' १० मार्च, १६२०) सत्याग्रह का सजगतापूर्ण, वैज्ञानिक और सफल प्रयोग कम-से-कम पचास वर्ष तक जीवन के सभी क्षेत्रों में करके गाँधीजी का यह निश्चित मत बन गया कि जनसमूह अनु-

शासन द्वारा सहज ही परिचालित हो सकता है और वह सत्याग्रह-अस्त्र का उपयोग प्रभावपूर्ण ढंग से कर सकता है।

आवश्यकता पड़ने पर सत्याग्रह के बारे में स्वयं गाँधीजी का लिखा हुआ साहित्य प्राप्त हो सकता है। यह सच है कि वे इसके दर्शन और प्रणाली के बारे में जो कुछ लिखते थे उसे संक्षिप्त करने का समय उन्हें कभी नहीं मिला था। किन्तु यदि कोई उनकी तत्सम्बन्धी सभी बातें पढ़ डाले—स्वयं उनके द्वारा परिचालित सत्याग्रह-संग्रामों की कहानियों का अध्ययन कर ले और उनके जीवन और व्यवहार को निकट से समझ ले तो वह उन सिद्धान्तों के सच्चे महत्त्व को समझ सकता है जिन पर गाँधीजी ने, अपने लम्बे और गहन रूप से क्रियात्मक जीवन में, अमल किया था। सत्याग्रह उनकी भीतरी अनुभूतियों और उनके आधार पर परीक्षित प्रयोगों का सार था। आज यदि कुछ चुने हुए मनस्वी उनकी इस शिक्षा की ओर आकर्षित हुए हैं तो इसका कारण यह है कि उनकी शिक्षाएँ उच्चतम मानव अनुभवों को प्रकट करती हैं।

सत्याग्रह का उदय

इसे एक घटना-संयोग की विलक्षणता ही समझिए कि अपनी जन्म-भूमि से तीन हज़ार मील दूर दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने राजनीतिक और सामाजिक अन्यायों के विरुद्ध अहिंसामूलक सामूहिक प्रतिरोध की नई प्रणाली का पहला प्रयोग आरम्भ किया था। उन्होंने अपनी इस शैली को लम्बे वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका की सरकार के साथ वहां के प्रवासी भारत-वासियों के संघर्ष में पूर्ण कर लिया और वे उस (संघर्ष) में सफल हो गये। उन दिनों सत्याग्रह की जो घटनाएँ घटित हुई थीं और वर्षों तक जिस रूप में वह चला था उनका मनोयोगपूर्ण अध्ययन महत्वपूर्ण भी है और आवश्यक भी। बुराई के साथ लड़ने के लिए विशुद्धतः नैतिक अस्त्रों के प्रयोग के लिए वह बीज-गर्भ की अवधि थी। वह वे दिन थे जब उस अहिंसा-पथ के अद्वितीय प्रवर्त्तक के जीवन का निर्माण-युग था, जिस (पथ) का उपयोग बाद में भारतीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए किया गया और जो अन्त में मानवता के लिए महान् प्रसाद सिद्ध हुआ।

कुछ अधिक रकम हाथ लगने और नया देश देखने के आकर्षण ने गांधीजी को दक्षिण अफ्रीका के समुद्र-तट पर पहुंचा दिया था। उन्होंने स्वयं कहा है कि मैं स्वार्थ और उत्सुकता के वशीभूत होकर वहाँ गया था। बम्बई में एक बैरिस्टर के रूप में

उन्हें कुछ भी सफलता नहीं मिली थी इसलिए कोई छः महीने के बाद वे राजकोट वापस चले गये थे। पर जब दक्षिण अफ्रीका जाने का अवसर आया तो उन्होंने उसका सदुपयोग किया। पोरबन्दर की किसी धनाढ्य व्यापारिक पेढ़ी की ओर से वे कानूनी अधिकार पत्र प्राप्त करके वहां गये। वे १८९३ ई० में जहाज द्वारा वहां के लिए रवाना हुए थे।

किन्तु अपने कानूनी काम के सिवा गांधीजी ने वहां और क्या देखा? जिस दिन वे वहां जहाज से उतरे उसी दिन उन्होंने देखा कि वहां हिन्दुस्तानियों की कोई बड़ी इज्जत नहीं है। उनके लिए जीवन की यह स्थिति असह्य हो उठी थी। जो हिन्दुस्तानी अपने को 'अरब' कहना पसन्द करते थे उनके अतिरिक्त सभी हिन्दुस्तानियों को 'कुली' कहा जाता था। स्वयं गांधीजी को 'कुली-बैरिस्टर' कहा जाने लगा। जब वे पहले-पहल अदालत में अनियमित रूप में गये तो मजिस्ट्रेट ने उन्हें अपनी हिन्दुस्तानी पगड़ी उतार देने को कहा। स्थानीय समाचारपत्रों ने उन्हें 'अयाचित आगन्तुक' लिखा। मेरीत्जबर्ग में उन्हें प्रथम श्रेणी के डब्बे से केवल इस अपराध में नीचे उतार दिया गया कि वे हिन्दुस्तानी थे। एक गाड़ी के कंडक्टर ने उन्हें केवल इसलिए पीटा था कि उन्होंने उसके पांव के पास बैठने से इन्कार कर दिया था यद्यपि वह गाड़ी के अन्दर बैठने के अधिकारी थे। ट्रान्सवाल में तो और भी बुरा हाल था। पहली और दूसरी श्रेणी के टिकट हिन्दुस्तानियों को बड़ी कठिनाई से दिये जाते थे। जोहान्सबर्ग के ग्राण्ड नेशनल होटल में गांधीजी को जगह नहीं दी। 'नटाल लॉ सोसाइटी' ने उनका नाम बैरिस्टरों में लिखे जाने का इसलिए विरोध किया कि वे 'काले' थे, यद्यपि सौभाग्यवश उस संस्था की आपत्ति अदालत ने नहीं स्वीकार की। इस प्रकार सारे दक्षिण अफ्रीका

में हिन्दुस्तानियों की अप्रतिष्ठा और उत्पीड़न की कोई हद नहीं रही थी।

इस प्रकार के कुछ आरम्भिक अनुभवों के बाद गांधीजी के हृदय को इन प्रश्नों ने हिला दिया कि "मुझे अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए या हिन्दुस्तान लौट जाना चाहिए?" अन्त में उन्होंने फैसला किया कि "इस प्रकार भाग जाना तो कायरता होगी।" उन्होंने वहां रुककर लड़ने का निश्चय कर लिया। इस निर्णय के फलस्वरूप ही वे दक्षिण "अफ्रीका के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोग" सम्पन्न कर सके।

१८६० ई० में तत्कालीन सरकार के बुलाने पर ही हिन्दुस्तानी दक्षिण अफ्रीका में शर्तबन्द मजदूर बनकर गये थे। तब से उनकी संख्या बढ़ती ही गयी और १८६३ ई० तक तो वहां दो लाख के लगभग हिन्दुस्तानी कुली पहुंच गये। उनमें से आधी संख्या उन लोगों की थी जो पहले तो शर्तबन्द कुली बनकर आये थे; पर पीछे शर्तबन्दी की अवधि पूरी हो जाने पर स्वतन्त्र नागरिक बन गये। इनमें लगभग एक-चौथाई ही ऐसे थे जो उस देश में स्वतन्त्र नागरिक के रूप में गये और वहां भी स्वतन्त्र रहे। वहां गये हुए हिन्दुस्तानियों में विभिन्न भाषा-भाषी अलग-अलग जातियों के लोग थे, पर गोरों ने न्यूनाधिक रूप में उन सभी को कष्ट पहुंचाया।

दक्षिण अफ्रीका में उन दिनों हिन्दुस्तानियों को अनेक प्रकार की शिकायतें और तकलीफें थीं जिनमें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सभी तरह के कष्ट सम्मिलित थे। उन सभी का उद्भव जातिगत ईर्ष्या-द्वेष से हुआ था जिससे सभी क्षेत्रों में हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध भेदभाव का बर्ताव किया जाता था। दूसरी महत्वपूर्ण बात थी यूरोपियनों और हिन्दुस्तानियों की प्रतिस्पर्द्धा—खासकर व्यापार और धन्धे के

क्षेत्र में। औसत यूरोपियनों को भय था कि हिन्दुस्तानी अपने निम्नकोटि के जीवन-मानदण्ड और सादगी के कारण आर्थिक क्षेत्र में यूरोपियनों को पछाड़ देंगे। इसीलिए यूरोपियन आत्म-रक्षा के नाम पर अपने व्यवहार को उचित बताते थे। अतः इस सामाजिक अक्षमता के अतिरिक्त हिन्दुस्तानियों को और भी कितनी ही त्रुटियों के कारण कष्ट-सहन करना पड़ता था जो भेदभावमूलक 'काले कानून' उन पर लागू करके पैदा कर दी गयी थीं। प्रत्येक भूतपूर्व भारतीय मजदूर को दक्षिण अफ्रीका में बसने के कारण ३ पौण्ड पोल टैक्स देना पड़ता था। सभी बच्चों के लिए—१६ वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह कर भरना पड़ता था। बिना लाइसेन्स के कोई भी व्यापार नहीं कर सकता था। यूरोपियनों को तो वह लाइसेन्स केवल मांग लेने पर ही मिल जाता था, पर हिन्दुस्तानियों को उन्हें प्राप्त करने के लिए बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इसके सिवा एक शिक्षा की परीक्षा लेने का कानून बन गया जिसके अनुसार प्रत्येक प्रवासी भारतीय को किसी भी एक यूरोपियन भाषा की परीक्षा बाध्य होकर पास करनी पड़ती थी। उस समय से तीन वर्ष पहले से रहनेवालों को ही इस परीक्षा से मुक्ति मिली थी। इसके अतिरिक्त अभी १९०६ ई० के एशियाटिक रजिस्ट्रेशन बिल के विरुद्ध आन्दोलन चल ही रहा था कि ट्रान्सवाल में प्रवासियों के रजिस्ट्रेशन का कानून भी १९०७ ई० में पास हो गया जिसके अनुसार किसी भी नवागन्तुक हिन्दुस्तानी के लिये दक्षिण अफ्रीका का दरवाजा बन्द कर दिया गया। भाषा की परीक्षा पास कर लेनेवाले हिन्दुस्तानियों को भी इस प्रतिबन्ध से छूट नहीं मिली।

अन्याय की भीषणता सर लीग हैलेट के शब्दों में और भी सजीव हो उठी थी। ये पहले (१९०३ में) नेटाल के

प्रधान मन्त्री रह चुके थे। उन्होंने कहा था—"हिन्दुस्तानी मजदूर लाने के पहले उपनिवेश की स्थिति विषादपूर्ण थी......। डरबन का निर्माण पूर्णतः हिन्दुस्तानी बस्ती ने किया।" इस सम्बन्ध में केवल 'कृतघ्न' शब्द का प्रयोग ही उचित प्रतीत होता है।

वहां हिन्दुस्तानी निरक्षर, गरीब, असंगठित और उपेक्षित दशा में तब तक पड़े रहे और संगठित नहीं हो सके जब तक कि गांधीजी ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। कुछ स्फुट दलों ने इधर-उधर की कुछ शिकायतों के विरुद्ध अपनी क्षीण आवाज उठायी थी, पर वह व्यर्थ हो गयी थी। किन्तु उनकी वह आवाज प्रार्थनापत्रों और आवेदनों के अतिरिक्त आगे कुछ नहीं होती थी।

एक वर्ष तक दक्षिण अफ्रीका में ठहरने के बाद गांधीजी १८९४ ई० में फिर हिन्दुस्तान लौटने को हुए। एक दिन संयोग-वश वहां के 'नेटाल मर्करी' पत्र के स्तम्भों में यह देखकर वे चिन्तित हुए कि अब वहां की व्यवस्थापिका सभा हिन्दुस्तानियों को मताधिकार से भी वंचित करनेवाली है। जब उन्होंने इस समाचार की ओर अपने मित्रों का ध्यान आकर्षित किया, तो उन्होंने तुरन्त उनसे अनुरोध किया कि वे हिन्दुस्तान न लौटें, क्योंकि वे उनके नेतृत्व में इसके विरुद्ध आन्दोलन करेंगे। गाँधीजी ठहर गये और १८९४ ई० में नेटाल इण्डियन कांग्रेस की स्थापना हो गयी। इससे बड़ा उत्साह बढ़ा और सैकड़ों हिन्दुस्तानी उसके सदस्य बने। आन्दोलन के लिए कितने ही लोगों ने धन दिया। इस बीच जब यह समाचार मिला कि लार्ड रिपन ने हिन्दुस्तानियों को मताधिकार से वंचित करनेवाले कानून को पेश करने की स्वीकृति नहीं दी तो लोगों में कुछ सुखपूर्ण आश्चर्य हुआ और उत्साह बढ़ा। पर गांधीजी, जैसा कि उनकी

रीति थी, केवल आन्दोलन से सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। वे आन्तरिक सुधार—सफ़ाई, आरोग्य-विज्ञान, शिक्षा और अधिक उत्तम जीवन बनाने, और दुकान तथा रहने के लिए अलग-अलग इमारतें बनवाने की ओर प्रवृत्त हुए।

१८६४ और १६०६ ई० के बीच गांधीजी हिन्दुस्तान से दक्षिण अफ्रीका जाते-आते रहे, किन्तु वे अपना सारा समय दक्षिण अफ्रीका स्थित हिन्दुस्तानियों की शक्ति संगठित करने में लगाते रहे और इस सिलसिले में भारत में उन्होंने एक प्रबल सज्ञान लोकमत जाग्रत कर दिया। उनकी सचाई, सेवा और त्याग ने उन्हें दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों में सर्वप्रिय बना दिया। उनकी सचाई, खरेपन और खुले व्यवहार और उनकी परेशानी के समय में विरोधियों की भी सेवा करने की प्रस्तुत भावना ने उन्हें उनके विरोधियों की दृष्टि में भी श्रद्धा भाजन बना दिया। बोअर युद्ध के समय उन्होंने वहां की सरकार को युद्ध-प्रयत्न में जो सहायता दी वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि संकट-काल में वे विरोधी की भी सेवा करने के लिए तैयार मिलते थे। जो हो, पर इतने दिनों तक दक्षिण अफ्रीका-प्रवासी हिन्दुस्तानियों की शिकायतें दूर नहीं हुईं।

अन्त में 'एशियाटिक लॉ अमेण्डमेण्ट आर्डिनेन्स' नाम का एक और कानून बना। गान्धीजी ने उसे पहले ट्रान्सवाल गवर्नमेण्ट गज़ट के विशेष संस्करण में पढ़ा जो २२ जुलाई १६०६ ई० को प्रकाशित हुआ था। उसके बारे में श्री जोसेफ़ जे० डोक ने निम्नलिखित बातें लिखी थीं—

'कोई अठारह महीने से (दक्षिण अफ्रीका स्थित) एशियाई लोग, जो सारे ट्रांसवाल में लगभग दस हज़ार होंगे और जिनकी जाति स्वाभाविकतया राजभक्त और कानून को माननेवाली रही है, सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। 'एशियाटिक लॉ अमेण्ड-

मेण्ट ऐक्ट' से, जिसका आधारभूत सिद्धान्त यह था कि एशियाइयों ने 'परमिट्स' के बारे में धोखा-धड़ी से काम लेना शुरू कर दिया है इसलिए वह एक जरायम-पेशा जाति है और उसके विरुद्ध कानून बनाया जाना चाहिए, इन लोगों में गहरा क्रोध फैल रहा है। वे अपने गैर-कानूनी कार्यों के प्रमाण के लिए चिल्लाते रहे हैं, पर उन्हें वह प्रमाण देने से इन्कार कर दिया गया। उन्होंने अपील की कि उनके विरुद्ध लगाये गये अभियोगों की जाँच सुप्रीम कोर्ट के जज से करायी जाय। उन्हें पार्लियामेण्टरी मत (वोट) नहीं प्राप्त थे और पार्लियामेण्ट में उनका कोई प्रतिनिधि नही था, इसलिए अब जरायम-पेशा लोगों का बाहरी चिह्न रजिस्ट्रेशन के रूप में देने—उँगलियों के निशान देने या कानून का विरोध करने के सिवा उनके लिए और कोई रास्ता नहीं रहा। उन्होंने प्रतिरोध का ही मार्ग निर्द्धारित किया। सौभाग्यवश उनका नेता एक सुसंस्कृत, सौम्य और साहसी व्यक्ति था और टॉल्सटाय का शिष्य था, इसलिए उनके प्रतिरोध ने निष्क्रिय-प्रतिरोध का रूप धारण किया।......मैंने कल उससे कहा,—'मेरे दोस्त, यह एक बड़ा संघर्ष बनने जा रहा है—इंग्लैण्ड को तो पर्वाह नहीं है और यहाँ की सरकार लोहे के समान कठोर है।' उसने जवाब दिया—'कोई हर्ज नहीं—यदि परीक्षण लम्बा हुआ तो मेरे लोग उससे विरुद्ध हो जायँगे और हमारी विजय अवश्य होगी।"

विधान के इस खण्ड पर टीका-टिप्पणी करते हुए गाँधीजी ने कहा—"मैंने ऐसा विधान कहीं नहीं देखा जो किसी भी देश के स्वतंत्र व्यक्तियों के विरुद्ध निर्मित किया गया हो।...कुछ कठोर विधान हिन्दुस्तान की नामधारी जरायम पेशा जातियों के विरुद्ध बने हैं जिसके साथ इस आर्डिनन्स की तुलना आसानी से की जा सकती है।...कानून के अनुसार अंगूठे के निशान

केवल जरायम-पेशा वालोंके लिये जाते हैं इसलिए मैं उँगलियों के निशान अनिवार्य रूप में लगाने की बात से दुःखी हुआ हूँ।"

गहरे विचार और उत्तेजनापूर्ण वाद-विवाद के बाद हिन्दुस्तानी समाज ने अपने तीन हजार प्रतिनिधियों की भारी सभा में, जो जोहान्सबर्ग में ११ सितम्बर १६०६ ई० में हुई थी, यह फैसला किया कि इस अपमानजनक आर्डिनेन्स का प्रतिरोध किया जाय। प्रत्येक प्रतिनिधि (डेलीगेट) ने यह शपथ ली कि चाहे जो हो जाय वह इस कानून का विरोध करेगा। गाँधीजी ने घोषणा की—"जब तक मुट्ठी भर आदमी भी हमारे लोगों के प्रति सच्चे बने रहेंगे तब तक संघर्ष का केवल एक ही अन्त हो सकता है और वह है हमारी विजय।"

इस प्रकार उस आन्दोलन का जन्म हुआ जो 'सत्याग्रह' नाम से विख्यात हुआ।

लोगों को 'सत्याग्रह'-आन्दोलन आरम्भ करने का उपदेश देने के पहले यह बात ध्यान देने-योग्य है कि गाँधीजी अन्य सभी शान्तिपूर्ण उपायों को समाप्त कर चुके थे। वास्तविक प्रतिरोध के पहले सामान्य प्रार्थनापत्र, शिष्टमण्डल, मुलाकात और पत्र-व्यवहार भुगत चुके थे। किन्तु औपनिवेशिक सचिव मि० डंकन ने उन्हें निश्चित रूप में बता दिया कि सरकार आर्डिनेन्स को दक्षिण अफ्रीका-प्रवासी यूरोपियनों के अस्तित्व के लिए आवश्यक समझती है।

इस प्रकार सारी तैयारी पूरी हो गयी। सत्याग्रह ने रजिस्ट्री कराने, उँगलियों का निशान देने और 'परमिट' न लेने आदि का रूप धारण कर लिया। सत्याग्रही कानून न मानने के परिणामों को भोगने के लिए तैयार हो गये।

नये आर्डिनेन्स के अनुसार १ जुलाई १६०७ ई० को सरकार का 'परमिट' आफिस खुल गया। गाँधीजी ने उन आफिसों

पर शान्तिपूर्ण धरना देने की व्यवस्था कर ली। बारह-बारह वर्ष के लड़कों ने अपने नाम धरना देनेवालों में लिखाये। यद्यपि कुल पाँच सौ के लगभग लोगों ने अपने नाम रजिस्टर्ड करा कर 'परमिट' ले लिये; पर गवर्नमेण्ट इससे आगे नहीं बढ़ सकी और उसने प्रतिरोधियों के संगठनकर्त्ताओं को और प्रतिरोधियों को गिरफ्तार कर लेने का निश्चय कर लिया।

सकट-काल दिसम्बर १९०७ में आया जब हिन्दुस्तानियों के प्रमुख नेताओं के नाम सूचना भेजी गयी कि वे अदालत के सामने हाज़िर होकर इस का कारण बतायें कि उन्होंने अपने नाम की रजिस्टरी क्यों नहीं करायी है। बहुतों को—जिनमें गाँधीजी भी थे—विभिन्न अवधि की सजाएँ हुईं। किन्तु ३० जनवरी १९०८ को जनरल स्मटस ने कुछ वादे कर लिये और किसी समझौते के फलस्वरूप गाँधीजी कुछ और महत्वपूर्ण कार्यकर्ताओं के साथ छोड़ दिये गये। जनरल स्मट्स ने आर्डिनेन्स रद्द कर देने का वचन दिया था और रजिस्ट्री को भी न्याययुक्त बना देने का वादा किया, पर इसके लिए उन्होंने हिन्दुस्तानियों पर यह शर्त लगायी कि स्वेच्छा से ही अपनी-अपनी उँगलियों के निशान सरकारी रजिस्टरों में दे दें। हिन्दुस्तानियों ने तो अपना काम कर दिया। नेताओं ने अपने ऊपर अनुयायियों-द्वारा सन्देह किये जाने की जोखों उठाकर भी यह काम किया पर जनरल स्मट्स ने समझौते सम्बन्धी अपना वादा पूरा नहीं किया और उन सभी वचनों का भंग कर दिया जो उन्होंने पहले कहे थे। आर्डिनेन्स रद्द नहीं किया गया। उन्होंने गाँधीजी के पत्रों के सन्तोषजनक उत्तर तक नहीं दिये। दूसरी ओर एक और बिल प्रभावपूर्ण ढंग से पेश किया गया जिसके अनुसार भारत के भावी आगन्तुकों पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

बाद में वह बिल पास होकर कानून बन गया।

संघर्ष का फिर जारी होना अनिवार्य हो गया। जोहान्सबर्ग में हिन्दुस्तानी प्रतिनिधियों (डेलीगेटों में) की एक सभा १६ जनवरी १६०८ को बुलाई गई जब प्रमाणपत्रों (सर्टीफिकेटों) की होली जलाई गई। उस दिन दो हजार प्रमाण-पत्र अग्निदेव की भेंट किये गये।

इसके पश्चात् लम्बा और कष्टसाध्य संघर्ष आरम्भ हुआ। जुर्माने, सजाएँ, सख्त मेहनत और कठोरताएँ, परेशानियाँ, बेइज्जती, बेत लगाने और गोलियों की बौछारें प्रतिनिधियों के भाग्य में आईं। इंग्लैंड और भारत को जो शिष्टमण्डल भेजे गये वे भी बिलकुल व्यर्थ सिद्ध हुए। १३ मार्च १६१३ को वहाँ के हाईकोर्ट के एक फैसले ने सभी हिन्दुस्तानी शादियों को गैर-कानूनी करार दे दिया क्योंकि वह दक्षिण अफ्रीका के स्थानीय कानून के अनुसार जायज नहीं होती थीं। यह फैसला भारतीय स्त्रियों के विरुद्ध एक दुष्टतापूर्ण अप्रतिष्ठा थी। उनको मानों डंक मार दिया गया और वे सब शीघ्रतापूर्वक आन्दोलन में सम्मिलित हो गईं। जो भी स्त्री-पुरुष गांधीजी के फिनिक्स स्थित अफ्रीकन आश्रम में थे वे सोलह-सोलह व्यक्तियों की टोलियाँ बनाकर ट्रान्सवाल की सीमा पार करने को चल पड़े। उन सभी को गिरफ्तार करके सजायें दे दी गयीं। कुछ तामिल-भाषी महिलाएँ जो नहीं गिरफ्तार की गयीं वे खानों के क्षेत्र में गयीं और उन्होंने वहाँ के हिन्दुस्तानी मजदूरों को ३ पौंड के पोल-टैक्स के अन्याय का विरोध करने के लिए उभारा। इस आन्दोलन के फलस्वरूप २०३७ पुरुषों, १२७ स्त्रियों और ३७ बच्चों की वह महान् यात्रा आरम्भ हुई जिसने ६ नवम्बर १६१३ को ट्रान्सवाल की सीमा पार की। इसके बाद गाँधीजी, पोलक तथा अन्य नेता गिरफ्तार किए गए। इन्हें वहाँ की

सरकार ने ट्रान्सवाल के 'आक्रमणकारी' कहकर सामूहिक रूप में गिरफ्तार करके सजाएँ दे दीं और उन्हें खानों में काम करने के लिए बाध्य किया गया। इस बीच हिन्दुस्तानी मजदूरों की हड़ताल एक खान से दूसरी और दूसरी से तीसरी में फैलकर व्यापक बन गयी। सत्याग्रहियों की कठिनाइयों का कोई पार न रहा।

अन्त में दक्षिण अफ्रीका की यूनियन सरकार की स्थिति असह्य हो गयी और उसने एक कमीशन नियुक्त करके उसके द्वारा हिन्दुस्तानियों का कष्ट दूर करने की घोषणा की। अन्त में विन्सेण्ट शीन के शब्दों में "जनरल स्मट्स ने भी वही किया जो गाँधीजी का विरोध करनेवाली प्रत्येक सरकार को करना पड़ा—उन्होंने घुटने टेक दिए।" गाँधीजी, कालेनबेक और पोलक को १८ दिसम्बर १९१३ को छोड़ दिया गया। अगले कुछ ही दिनों में अन्य कैदियों को भी छोड़ दिया गया। जुलाई १९१४ के अन्त तक भारतीय कष्टनिवारक (इण्डियन रिलीफ़) बिल पास हो गया जिसके अनुसार ३ पौण्ड का कर रद्द कर दिया गया, हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक विवाहों को जायज़ करार दे दिया गया (केवल एक पत्नी करना कानूनी दृष्टि से वैध माना गया) और बसावट के प्रमाण-पत्र को ही नागरिकता का निर्णायक प्रमाण मान लिया गया।

इस प्रकार उस बड़े संघर्ष का अन्त हुआ जो आठ वर्ष (१९०६ से १९१४) तक चलता रहा था और जिसने सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिए संघर्ष के क्रान्तिकारी ढंग द्वारा एक अभिनव इतिहास का निर्माण कर दिया।

यह कहानी यद्यपि बहुत संक्षिप्त रूप में दी गयी है फिर भी सत्याग्रहियों के साहस का जिक्र किए बिना इसकी पूर्ति न होगी। गाँधीजी का कहना है कि सत्याग्रही जो भी कदम

उठाता है उसमें वह इस बात को देख लेता है कि विरोधी की स्थिति क्या है। विरोधी की कठिनाई को सत्याग्रही अपने लिए सुअवसर नहीं बनाता, और विरोधी के कठिनाइयों में पड़ जाने पर सत्याग्रही अपना काम छोड़कर भी उसकी सहायता करेगा। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रहियों ने इसी धारणा के अनुसार काम किया। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

जब नार्थकोस्ट के मजदूरों ने हड़ताल की तो माउण्ट एज-कोम्बे के गन्ने के खेतवालों को बड़ा नुकसान पहुंचा, क्योंकि जो गन्ना खेतों में कट चुका था उसे जब तक मिलों तक पहुंचा न दिया जाय तब तक तो उसका कोई उपयोग ही नहीं था और यह हानि अत्यधिक थी। ऐसी अवस्था में बारह-सौ हिन्दुस्तानी मजदूरों ने पहले खेतों में कटे गन्ने को मिलों में पहुंचाकर उसके पेलने का काम पूरा करा दिया और उसके बाद हड़ताल की।

एक दूसरे अवसर पर जब डरबन-म्युनिसिपैलिटी के हिन्दुस्तानी नौकरों ने काम छोड़कर हड़ताल कर दी तो सफाई और अस्पताल के विभागों में काम करनेवाले हिन्दुस्तानियों को उनके काम पर वापस भेज दिया गया जिससे शहर में महा-मारी न फैल जाय और अस्पतालों में पड़े बीमार और भी कष्ट में न पड़ जायँ।

इस प्रकार के उदाहरणों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य वह अवसर था जब यूनियन रेल्वे के यूरोपियन कर्मचारियों ने सामूहिक हड़ताल कर दी थी। उस समय दक्षिण अफ्रीका की यूनियन सरकार सचमुच परेशानी में थी। गाँधीजी को कुछ लोगों ने यह राय दी कि वे उस हड़ताल में हिन्दुस्तानियों को भी सम्मिलित कर दें तो सरकार को घुटने टेक कर तुरन्त फैसला करना पड़ेगा। किन्तु गाँधीजी ने ऐसा करने से इन्कार

कर दिया। उन्होंने कहा कि ऐसा करना सत्याग्रह की प्रवृत्ति के विरुद्ध होगा। गाँधीजी के इस फैसले की कद्र बहुत व्यापक रूप में हुई और जनरल स्मट्स के एक मंत्री ने गाँधीजी से कहा—"मुझे आपके आदमी—हिन्दुस्तानी पसन्द नहीं हैं और उन्हें सहायता देने की मुझे बिलकुल पर्वाह नहीं है; पर मैं क्या कर सकता हूँ? आप समय आने पर हमारी सहायता करते हैं। मैं प्रायः चाहता हूँ कि अंग्रेज़ हड़तालियों की तरह आप भी हिंसा करें, क्योंकि तब तो हम आपसे निबट लेने की तरकीब फौरन निकाल लेते हैं। किन्तु आप तो दुश्मन को भी नुकसान नहीं पहुंचाते। आप तो केवल कष्ट-सहन के ही द्वारा विजय की आकांक्षा रखते हैं और अपने सौजन्य और वीरता की स्वतःगृहीत मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते। यही कारण है कि हम आपके विरुद्ध कुछ करने में बिलकुल असहाय हो जाते हैं।"

विरोधी पर सत्याग्रह के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का इससे सुन्दर वर्णन नहीं मिल सकता।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह से यह भी प्रकट हो जाता है कि केवल निष्क्रिय प्रतिरोध—जो वास्तव में दुर्बल का हथियार है—और वास्तविक सत्याग्रह में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। यह विरोधी के प्रति भी प्रेम रखते हुए सत्य का अस्खलित अनुसरण करने से और आन्तरिक शक्ति से उत्पन्न होता है। इस मामले में गाँधीजी ने यह आ ह किया कि सत्य और न्याय उनके पक्ष में है और वह उसकी स्थापना किसी के प्रति भी दुर्भावना किए बिना और कष्ट सहन द्वारा करेंगे।

भारतीय आन्दोलन में पशु-बल के लिए कोई स्थान नहीं है। सत्याग्रहियों को चाहे जितना कष्ट उठाना पड़ा हो फिर भी उन्होंने कभी शारीरिक बल का प्रयोग नहीं किया और न उसे

कभी अपने मन में स्थान दिया यद्यपि ऐसे अवसर आए थे जब वे उसका उपयोग प्रभावपूर्ण ढंग से कर सकते थे। सत्याग्रह विशुद्धतः आत्मबल है। जिस प्रकार निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रेम के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है, वैसे ही सत्याग्रह में घृणा के लिए कोई स्थान बिलकुल ही नहीं है। साथ ही शस्त्रों के प्रयोग के साथ-साथ निष्क्रिय प्रतिरोध चल सकता है, किन्तु सत्याग्रह में हिंसा तो कभी किसी भी रूप में आने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सत्याग्रही विरोधी को कष्ट न पहुँचाकर सब स्वयं अपने शरीर पर झेल लेता है, तो वह यह मानकर ही ऐसा करता है कि विरोधी की विजय किस में है।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की कहानी केवल एक सैद्धान्तिक मूल्य नहीं—कुछ और भी है, और वह अपरिमेय ऐतिहासिक दिलचस्पी की चीज़ है। आज भी सारे संसार में स्त्री-पुरुषों के विशाल समूह उसी प्रकार की अक्षमताओं के कष्ट भोग रहे हैं जैसी दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों ने भोगे हैं, और वे भी वैसी ही बुरी स्थिति में हैं जिसमें हिन्दुस्तानी थे। सम्भवतः उनके पास उसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है जिसे गाँधीजी ने निकाला और कार्यान्वित किया था। मिट्टी के पुतले-जैसे निःशस्त्र और असहाय, पिछड़े हुए और अनजान, संगठन और अनुशासन से विहीन और विभिन्न प्रकार के हिन्दुस्तानियों को इस सत्याग्रह-अस्त्र ने महावीर बना दिया। अपनी 'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह' पुस्तक (पृष्ठ १४७) में गाँधीजी कहते हैं—"इस पुस्तक के लिखने में मेरा उद्देश्य यही है कि राष्ट्र इस बात को जान ले कि मैं जिस सत्याग्रह के लिए जीवित हूँ, जिसके लिए मैं जीवित रहने की आकांक्षा रखता हूँ और जिसके लिए मेरा विश्वास है कि मैं मरने के लिए भी समान रूप से तैयार हूँ, उसका श्रीगणेश कैसे हुआ

और सामूहिक रूप में उसको किस प्रकार अमल में लाया गया—और इसे जानकर वह इसे उस हद तक ले जाय जहाँ तक वह उस पर अमल करने की इच्छा और योग्यता रखता है।

कानून बनाम विवेक

उन दिनों गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका में थे। १९०८ ई० में उन्होंने जब रेवरेण्ड डोक को—जिसने उनकी जीवनी उन्हीं दिनों लिखी थी—निम्नलिखित बातें देववाणी के समान लिख दी थीं—"ट्रान्सवाल का संघर्ष ऐसा नहीं है जिसमें हिन्दुस्तान को कोई दिलचस्पी न हो।...यह (अहिंसात्मक प्रतिरोध) एक धीमी गति का उपाय हो सकता है, किन्तु मैं इसे न केवल ट्रान्सवाल की बुराइयों को दूर करने का निश्चित उपाय मानता हूँ, बल्कि यह उन सभी राजनीतिक तथा अन्य उपद्रवों का उपाय है जिससे हमारे देश—भारत के लोग कष्ट पा रहे हैं।" उस समय उन्होंने यह बात मुश्किल से सोची होगी कि नौ वर्ष बाद उन्हें स्वयं ही भारत में उसी प्रकार का सत्याग्रह आरम्भ करना होगा। सफलता की आभा लेकर गाँधीजी १९१५ ई० में स्वदेश लौटे। आरम्भ में उन्होंने कुछ स्थानों की यात्रा की और वे कुछ प्रमुख व्यक्तियों से मिले और १९१७ ई० में उन्हें एक ऐसा अवसर मिला जिसके सिलसिले में उन्हें अपना नया अस्त्र काम में लाने की स्थिति आयी।

यदि दक्षिण अफ्रीका उनके सामूहिक सत्याग्रह के प्रथम प्रयोग का क्षेत्र बना, तो बिहार प्रान्त का एक जिला चम्पारन उस नवीन आरम्भ के परीक्षण का भारत-भूमि पर पहला और बहुत

अनुकूल क्षेत्र सिद्ध हुआ। तब से चम्पारन का महत्त्व बढ़ गया और यह एक ऐसा नाम बन गया जो इस देश में सत्याग्रह संघर्ष के दिनों में बड़ा उद्वेलनकारी सिद्ध हुआ।

चम्पारन के किसान सीधे-सादे लोग थे। वे बेचारे उस भूमि के कीड़े-मात्र थे और नित्य हल चलाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते थे। गाँधीजी पर उनके निराशाजनक अज्ञान का बड़ा असर पड़ा। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने 'चम्पारन का इतिहास' में १९२१ ई० में लिखा था—"आरम्भ से ही उन्हें विश्वास हो गया था कि किसी भी बाहरी शक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि उनकी दशा में सुधार कर सके जब तक कि उनकी मानसिक और चारित्रिक स्थिति में प्रगति न हो जाय।"

मुख्य झगड़ा असामियों और निलहे-गोरों के बीच था जिन्होंने जिले की आधी जमीन पर या तो जमींदारों के रूप में कब्जा कर रखा था या पट्टेदार के रूप में। शिकायतें एक सदी से भी पहले से जमा हो रही थीं जिनका मूल कारण वह प्रणाली थी जिसके अन्तर्गत असामियों को अपने खेतों के एक भाग में तो नील अवश्य ही बोनी पड़ती थी फिर चाहे वह उनके लिए लाभदायक हो या नहीं। इनके अतिरिक्त बेगार और करों का भी झगड़ा था जो मध्ययुगीय ढंग का था। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस प्रकार के चालीस करों का जिक्र किया है जिन्हें संयुक्त रूप में 'अबवाब' कहा जाता था। उनमें से कुछ तो बड़े ही विलक्षण और पुराने ढंग के थे। उनमें से एक को 'पानी खर्चा' कहा जाता था। ऐसा माना जाता है कि आरम्भ में यह सिंचाई का कर रहा होगा। पर यह कर उस अवस्था में भी लिया जाता था जब सिंचाई के लिए पानी नहीं होता था। किसान को अपने बच्चे की शादी का भी सवा रुपया कर देना पड़ता था जिसे 'मारवाच' कहते थे। जब कभी कोई निलहा (नील बोनेवाला

जमींदार या पट्टेदार साहब) हाथी खरीदना चाहता था अथवा उसे घोड़े या मोटरकार की आवश्यकता होती थी तो असामियों को उसका विशिष्ट कर अलग देना पड़ता था। जिन किसानों के पास तेल के कोल्हू होते थे अथवा जो अनाज बेचते या गाय पालते थे उन्हें भी अतिरिक्त कर देना पड़ता था। ये चालीसों प्रकार के कर बिलकुल मनमाने और अनियमित ढंग के थे—और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि कानून के विरुद्ध होते हुए भी इन्हें संगीन की नोक के बल पर जबर्दस्ती वसूल किया जाता था। जो बात किसी समय फरीदपुर के मजिस्ट्रेट मि० ई० डब्ल्यू० एल० टावर ने बंगाल में नील की खेती के बारे में १८८० ई० में एक कमीशन के सामने कही थी, वह चम्पारन के बारे में भी उतनी ही सच थी। उनका कथन था—"नील उगाने की इस प्रणाली को मैं रक्तपात की प्रणाली मानता हूँ।" निस्सन्देह प्रत्येक असामी को हर तरह का अबवाब हर साल नहीं चुकाना पड़ता था, किन्तु इन करों में कुछ ऐसे थे जिन्हें हर साल वसूल किया जाता था, कुछ को खास मौकों पर, और कुछ कर ऐसे होते थे जो खास-खास असामियों से ही वसूल किये जाते थे। बन्दोबस्त अफसर मि० जे० ए० स्वीनी की राय में 'अबवाब' का पड़ता कानूनी लगान के समान ही पड़ जाता था जिसका मतलब यह हुआ कि प्रत्येक असामी को कानून की दृष्टि से जितना लगान देना उचित होता था उससे दुगना देना पड़ता था।

इन सबसे अधिक अन्याय-पूर्ण थी 'तिनकठिया'-प्रणाली जिसके अनुसार प्रत्येक असामी को बाध्य होकर हर बीस बिस्वे पीछे तीन (या कभी-कभी पाँच) बिस्वे में नील बोनी पड़ती थी फिर चाहे वह उसके लिए लाभदायक हो या नहीं। माननीय मि० मॉड ने १९१७ ई० में चम्पारन अग्रेरियन बिल पेश करते हुए

इस प्रणाली के बारे में कहा था—"बुराई की जड़ है 'तिनकठिया' प्रणाली जिसके अनुसार रैयत को ठेके के तौर पर या भूमि-व्यवस्था के रूप में अपनी भूमि के एक भाग में प्रतिवर्ष नील के कारखानों के लिए नील बोनी पड़ती है।" उन्होंने यह भी कहा—"इस प्रणाली की जड़ का विनाश तो सरकार ही और वह भी कानून बनाकर कर सकती है।"

इस प्रकार के अन्याय और दुश्चक्रों के बीच दशाब्दियों तक शोषण चलता रहा। दुर्भाग्यवश शासन दलितों की सहायता करने के बदले सम्बद्ध स्वार्थों का समर्थन करता रहा। १८६० ई० से किसी-न-किसी प्रकार का आन्दोलन चलता ही रहा है। स्मृति-पत्र और आवेदनपत्र भेजे जाते रहे। कभी-कभी केवल निराशावश बड़े-बड़े हिंसात्मक विभ्राट् और नील के कारखानों के जलाये जाने आदि की घटनाएँ होती रहीं। बाबू ब्रजकिशोर-प्रसाद ने १९१५ ई० में बिहार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में एक प्रस्ताव पेश किया कि इस मामले की जांच करने के लिए कमेटी नियुक्त की जाय। किन्तु बुराई दूर करने के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया।

दिसम्बर १९१६ ई० में कांग्रेस के लखनऊ-अधिवेशन में बिहार के कुछ कार्यकर्त्ताओं ने एक प्रस्ताव पेश किया और उस (अधिवेशन) में भाग लेने के लिए आये हुए लोगों ने गाँधीजी से अनुरोध किया कि वे इस प्रस्ताव पर कुछ बोलें। अपने विशिष्ट ढंग से गाँधीजी ने कहा कि वे इस विषय की जानकारी नहीं रखते इसलिए उस पर तब तक कुछ भी बोलने में असमर्थ हैं जब तक कि उसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते। बिहार के कार्यकर्त्ताओं के बहुत दबाव डालने पर गाँधीजी ने बाद में चम्पारन जाने का वादा कर लिया और वे १० अप्रैल १९१७ को सचमुच पटना पहुँच भी गये। पटने से मुजफ्फरपुर होते

हुए चम्पारन जाने के लिये वे १२ अप्रैल को रवाना हो गये।

असामियों की शिकायतें बहुत पुरानी थीं। १८६० ई० से लगभग लगातार स्थानीय आन्दोलन होते रहे। कुछ ईमानदार अफ़सरों की जाँच-पड़ताल से सरकार को इतना तो मालूम हो गया कि आन्दोलन में कुछ सार अवश्य है और असामियों को सचमुच बहुत क्षतिग्रस्त होना पड़ता है। करीब-करीब प्रत्येक वैधानिक आन्दोलन कोई कष्ट-निवारण किये बिना समाप्त हो गया। बेचारे असामियों के आगे अन्धेरी दीवार खड़ी थी।

ऐसी स्थिति में गांधीजी अपनी संघर्ष-शैली के साथ घटना-स्थल पर पहुँचे। यह दूसरी बात है कि ऐसा कोई मौका नहीं आया जब गांधीजी ने किसानों से कहा हो कि वे लगान देने से इन्कार करके या अन्याय के सामने सिर झुकाने से इन्कार करके सत्याग्रह का श्रीगणेश करें। इस मामले में तो अकेले गांधीजी का ही सत्याग्रह बिहार के दलित किसानों के कष्ट-निवारण का द्वार खोल देने के लिए काफ़ी हो गया।

गांधीजी वहां खुले मन से व्यक्तिगत जांच के लिए गये थे और उसे वे बिलकुल परिपूर्ण, सच्चा और खुले रूप में कर लेना चाहते थे। उन्होंने अपनी मांग भी अविचलित रूप में केवल एक ही बात के लिए की और वह यह थी कि सरकार एक निष्पक्ष कमीशन द्वारा सारे मामले की जांच कराये। वे न केवल सरकारी कर्मचारियों और निलहे प्लाण्टर्स एसोसिएशन के सतत् सम्पर्क में रहे, बल्कि उन्हें अपने इरादों और योजनाओं की सूचना देते रहे। उन्होंने अपनी जांच के सिल-सिले में किसानों और निलहे प्लाण्टर्स के बीच की गलत-फहमी के कारण जानने के लिए उन (सरकारी कर्मचारियों और नील की खेती करानेवाले प्लाण्टर्स) से भी मदद मांगी?

गांधीजी का वहां जाना प्लाण्टर्स और सरकारी अधिकारियों

को नहीं रुचा। जब उन्हें मालूम हुआ कि गांधीजी चम्पारन जा रहे हैं तो वे घबरा उठे। वास्तव में प्लाण्टर्स एसोसिएशन के मन्त्री ने अपने १२ अप्रैल १९१७ के पत्र में उन्हें यह सलाह दी कि वे चम्पारन न जायँ और यह कि जांच की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। जब उन्होंने सरकारी अफ़सरों को अपने इरादों की सूचना दी तो उन्हें मुज़फ्फरपुर में उस डिवीजन के रेवेन्यू कमिश्नर ने १३ अप्रैल को बताया कि सरकार की ओर से जांच हो रही है और उन्हें न केवल कोई मदद इस कार्य में नहीं मिल सकती बल्कि उन्हें शीघ्र ही वहां से चले जाना चाहिए। गांधीजी दृढ़ थे और उन्होंने सब को बता दिया कि वे वहां जनता के आमन्त्रण पर गये हैं और बिना वास्तविक स्थिति अपनी आंखों से देखे वहां से न लौटेंगे। स्थानीय कार्यकर्त्ताओं के इस लिखित अनुरोध की कि वे वहां आकर स्थिति को देखें, एक प्रतिलिपि को नत्थी करते हुए गांधीजी ने एक पत्र सरकारी अधिकारियों को भेज दिया जिसमें उन्होंने यह भी लिख दिया कि वे वहां सचाई की जांच करने आये हैं और यही उनका एकमात्र उद्देश्य है।

इस प्रकार एक ओर सत्य-शोधक, शान्तिप्रिय गांधीजी, और दूसरी ओर शोषकों और अधिकारियों के बीच संघर्ष की तैयारी पूरी हो गयी।

इस बीच प्रान्त के महत्त्वपूर्ण नेता और कार्यकर्त्ता मुज़फ्फरपुर आ पहुँचे। किसान सैकड़ों की संख्या में गांवों से चलकर वहां पहुँच गये। गांधीजी ने अपनी जांच शुरू कर दी थी। वे जिले के केन्द्र मोतिहारी को होते हुए १५ अप्रैल को चम्पारन के लिए रवाना हुए। उन्होंने अपने साथियों को बताया कि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में कैसे अनुभव प्राप्त किये हैं। उन्होंने कहा कि जब एक व्यक्ति को जेल भेज दिया जाता था तो दूसरा

उसका अनुसरण करता था और इस तरह काम आगे बढ़ता रहा। "मैं चाहता हूँ कि यहां भी उसी तरह कार्य संचालित हो।" उन्होंने बताया। वह किसी भी क्षण गिरफ्तार कर लिये जाने की आशा कर रहे थे।

१५ अप्रैल को गांधीजी और उनके दलवाले मोतिहारी पहुँच गये। गांधीजी आसपास के कुछ गांवों में जाना चाहते थे और वे एक गांव में सचमुच पहुँच भी गये जो मोतिहारी से नौ मील के फासले पर था। पर सहसा पुलिस ने उन्हें बुला भेजा और उन्हें मोतिहारी वापस जाना पड़ा। रास्ते में उन्हें जिला मजिस्ट्रेट की सूचना मिली कि वे वहां से चले जायँ। मजिस्ट्रेट ने यह सूचना डिवीजन के कमिश्नर के आदेशानुसार दी थी। कमिश्नर का यह आरोप था कि गांधीजी का उद्देश्य केवल ज्ञानप्राप्ति के लिए सच्ची खोज मात्र करना न होकर आन्दोलन करना प्रतीत होता है। उस आर्डर की शब्दावली इस प्रकार थी—"...जिले के किसी भी भाग में आपकी उपस्थिति सार्वजनिक शान्ति के लिए खतरनाक हो जायगी और उससे गम्भीर उपद्रव हो सकता है।...मैं आपको हुक्म देता हूँ कि आप इस जिले में न रहें।..." इसके बाद गांधीजी को फिर आदेश मिला कि वे पहली गाड़ी से ही जिले को छोड़ जायँ।

ताजीरात हिन्द की १४४ वीं धारा के इस हुक्मनामे के जवाब में गांधीजी ने जिला मजिस्ट्रेट को लिखा कि कमिश्नर ने स्थिति को बिलकुल ग़लत रूप में समझा है। उन्होंने यह भी लिखा कि "सार्वजनिक उत्तरदायित्व की भावना से मैं अपना यह कर्त्तव्य समझता हूँ कि मैं आपको बता दूं कि मैं जिला छोड़ जाने की स्थिति में नहीं हूँ, पर यदि अधिकारी चाहें तो मैं उनकी अवज्ञा का दण्ड भोगने के लिए तैयार हूँ।...मेरी इच्छा शुद्धतः केवल यही है कि मैं सच्ची जानकारी प्राप्त करूं और इसका

आश्वासन मैं तब तक देता रहूँगा जब तक स्वतन्त्र रहूँगा।"

इसके बाद उन्होंने अपने साथियों से परामर्श किया और उन्हें बताया कि यदि यह आवश्यक हुआ तो उन्हें भी उनका अनुसरण करते हुए जेल जाने के लिए तैयार रहना चाहिए। तभी उनका ध्येय निश्चित रूप में सफल होगा। वह किसी भी क्षण जेल भेजे जा सकते हैं इसलिए लिखित हिदायतें तैयार रखी जानी चाहिए। इस बीच किसानों के बयान लिये जा रहे थे और वह जितने गांवों को जा सकते थे उतने में पहुँच गये। ऐसा करते समय उन्होंने ज़िला मजिस्ट्रेट को सूचित कर दिया कि वह कोई बात छिप कर नहीं करना चाहते और यह अच्छा होगा कि उनके दल के साथ-साथ कोई पुलिस अधिकारी भेज दिया जाय।

यह प्रकट था कि मजिस्ट्रेट इस मामले में चुप्पी नहीं लगा सकता था और गाँधीजी के नाम एक समन भेजा गया कि वे १८ अप्रैल को अदालत में हाज़िर हों और उन पर लगाये गये हुक्म की अवज्ञा करने के अभियोग का जवाब दें।

इस बीच गाँधीजी ने कितने ही मित्रों को वहाँ का हाल-चाल लिख दिया था। पटने के सार्वजनिक कार्य-कर्त्ताओं को पूरी सूचना दी गयी। गाँधीजी के पास तारों और चिट्ठियों के ढेर लग गये जिनसे यही प्रतीत होता था कि कार्यकर्त्ता इस संघर्ष में गाँधीजी का हाथ बँटाने को तैयार हैं। जब गाँधीजी से उनके साथ काम करनेवाले दो व्यक्तियों ने कहा कि वे गाँधीजी के जेल चले जाने के बाद भी उनका काम ज़ारी रखते हुए आवश्यकता पड़ने पर जेल जाने को तैयार हैं, तो वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने खुश होकर कहा—"अब मैं जान गया कि हमें सफलता मिलेगी।"

१८ अप्रैल को गाँधीजी मजिस्ट्रेट के सामने हाज़िर हुए।

अदालत के अहाते में गाँववालों की भारी भीड़ जमा थी। उन्होंने अपनी सहज बुद्धि से अपने इस नये नेता को पहचान लिया था। गाँधीजी ने कोई वकील नहीं किया। उन्होंने एक छोटा-सा वक्तव्य पढ़ सुनाया जिसका मुख्य अंश इस प्रकार था—"...मैंने ताजीरात हिन्द की १४४ धारा के अनुसार दिये गये आदेश का प्रकटतया उल्लंघन करके गम्भीर कार्यवाही की है।···मैंने मानवीय और राष्ट्रीय सेवा करने के उद्देश्य से गाँवों में प्रवेश किया।···मैं समस्या का अध्ययन किये बिना (असामियों की) कोई सेवा नहीं कर सका।···मैं महसूस करता हूँ कि अभी तो मैं उनके बीच में रहकर ही उनकी सेवा कर सकता था। इसीलिए मैं स्वेच्छापूर्वक अवकाश न चाहूँगा। ···किसी भी आत्म-प्रतिष्ठावाले आदमी के लिए यह आवश्यक है कि वह विरोध किये बिना अवज्ञा का दण्ड भोग ले।···मैंने आदेश की उपेक्षा इसलिए नहीं की है कि मैं विधि-विहित अधिकारियों के प्रति कोई अप्रतिष्ठा के भाव रखता था, बल्कि ऐसा इसलिए किया है कि हमारे विवेक की—हमारे अस्तित्व के सर्वोच्च विधान की आज्ञा ऐसी ही थी।"

मजिस्ट्रेट ने अनिच्छापूर्वक अभियोग लगा दिया और अन्त में उसने गाँधीजी से कहा—"अगर आप अब भी ज़िला छोड़ दें और फिर न लौटने का वादा करें तो आपके विरुद्ध चलाया गया मामला वापस लिया जा सकता है।" इसके जवाब में गाँधीजी ने कहा—"यह नहीं हो सकता। इस बार की ही बात मैं नहीं कहता; मैं तो जेल से लौटकर भी चम्पारन को अपना घर बनाऊँगा।" मजिस्ट्रेट अवाक् रह गया और उसने घोषणा की कि वह ३ बजे अपना फैसला सुनायेगा; पर बाद में उसने कहा कि अब वह तीन दिन बाद अपना निर्णय देगा। मजिस्ट्रेट ने गाँधीजी से अनुरोध किया कि वह इन तीन दिनों के

अन्दर गाँव न जायँ। गाँधीजी ने यह बात मान ली। किन्तु किसानों के बयान लिखने का काम गाँधीजी ने जारी रखा। इस बात की बहुत सावधानी की गयी कि केवल सच्चे बयान ही लिये जायँ।

किन्तु जिस दिन फैसला सुनाया जानेवाला था उस दिन गाँधीजी के विरुद्ध चलाया गया मुकदमा वापस ले लिया गया।

इस मुकदमे की कार्यवाही और उसमें गाँधीजी की दृढ़ता और वक्तव्य के समाचार न केवल भारत के कोने-कोने में पहुँच गये बल्कि विदेशों तक में पहुँचे। उस समय तक अनेक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता मोतिहारी पहुँच गये थे और उन्होंने गाँधीजी से बातचीत करके यह प्रतिज्ञा की कि वे गिरफ्तारी की जोखों पर भी काम करना जारी रखेंगे। गाँधीजी को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्हें विश्वास हो गया कि काम जारी रहेगा। किसान उत्साह से उन्मत्त हो रहे थे और गाँधीजी जहाँ कहीं गये वहीं उनका शानदार स्वागत हुआ और जुलूस निकला। निलहे प्लाण्टर्स (नील की खेती करनेवाले) पहले ही घबराये हुए थे और वे अपने हक में सरकारी कानून बनवाने के फिराक में थे। पर गाँधीजी जहाँ-कहीं भी गये और जो-कुछ भी किया सब खुले रूप में, और वे उसकी पूर्व-सूचना प्लाण्टरों और सरकार को बराबर देते रहे। आखिर १० मई को गाँधीजी को बिहार-सरकार के आनरेबल मि० मॉड ने मुलाकात के लिए बुलाया। गाँधीजी ने १२ मई १९१८ को तथ्यों के आधार पर संग्रहीत असामियों के ४००० बयानों के साथ एक स्मृतिपत्र भेजा। उस के अन्त में गाँधीजी ने लिखा था—"मेरा विश्वास है कि किसान एक दुःखद गलती के कारण कठोर श्रम कर रहे हैं जिससे उन्हें मुक्त कर देना चाहिए। ऐसा करने के लिए मैंने प्लाण्टर्स की प्रणाली के साथ ऐसी शान्ति से व्यवहार किया

है जैसी कि मेरे लिए सम्भव थी।" बाद में जून महीने में गाँधीजी ने बिहार के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर से मुलाकात की और उसी महीने की १३ तारीख को एक जाँच समिति की घोषणा की गयी जिसके एक सदस्य गाँधीजी भी बनाये गये।

उस जाँच समिति की रिपोर्ट के फलस्वरूप १९१७ ई० का 'चम्पारन अग्रेरियन बिल' बिहार व्यवस्थापिका सभा में पेश होकर पास हो गया।

किन्तु गाँधीजी केवल आर्थिक और राजनैतिक शिकायतें दूर कर देने से ही सन्तुष्ट नहीं हो गये। वह किसानों की सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति खास तौर पर चाहते थे। गाँधीजी के सत्याग्रह—तत्त्वज्ञान एवं प्रणाली का एक मुख्य अंग सदा रचनात्मक क्रियाशीलताएँ रही हैं। अब उन्हें संयुक्त रूप में 'रचनात्मक कार्यक्रम' का नाम दे दिया गया है। उन्होंने अनेक गांवों में पाठशालाएँ खोलीं और उनके द्वारा किसानों में शिक्षा और स्वस्थ जीवन के सिद्धान्त की शिक्षा दी। वह जानते थे कि केवल वही लोग, जो सेवाभाव से प्रेरित होंगे, उनके लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं। कैसे स्वेच्छासेवक गाँधीजी चाहते थे, इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—"उन (स्वयंसेवकों) का काम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी होगा और स्थायी भी, और इसलिए यह हमारे ध्येय की अन्तिम आवश्यक स्थिति होगी। वे प्रौढ़, विश्वस्त, कठिन कार्य करनेवाले लोग होने चाहिएँ जो फावड़ा लेकर गाँव की सड़कें बनाने में और गाँवों की सफाई करने में न हिचकिचायें। इसके अतिरिक्त वे जमींदारों से व्यवहार करना भी जानें और रैयत का ठीक पथ-प्रदर्शन करें। इस गुण के लिए छः महीने का शिक्षण (ट्रेनिंग) रैयत के लिए अगणित रूप में लाभदायक होगा और कार्यकर्त्ताओं तथा विस्तृत देश के लिए भी।"

गाँधीजी के इस संघर्ष से एक ओर जहाँ निलहे प्लाण्टरों के अत्याचार का मृत बोझ किसानों पर से सचमुच उठ गया, वहाँ दूसरी ओर इस लड़ाई के परिणामस्वरूप लोगों पर जो नैतिक प्रभाव पड़ा वह ध्यान देने योग्य था। गरीब किसानों में इससे नई जान आ गयी और उन्होंने अनुभव किया कि उनके पास भी लड़ने के लिए कोई हथियार है, और वह भी अपने अधिकारों के लिए साहसपूर्वक खड़े हो सकते हैं। जो लोग दशाब्दियों से ऐसे दबाये हुए थे और कानाफूसी करते हुए भी डरते थे कि कहीं उन्हें प्लाण्टरों के क्रूर नौकर यंत्रणा न दें, वे अब अत्याचारियों के मुँह पर ही उन पर दोषारोपण करने का साहस करने लगे। १९२२ ई० में ही श्री राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी पुस्तक 'चम्पारन में सत्याग्रह' में इस प्रकार लिखा था—"इस प्रकार चम्पारन का महान् संघर्ष समाप्त हुआ। महात्मा गाँधी के चम्पारन में ठहरने का जो अच्छा और व्यापक प्रभाव पड़ा उसका अनुमान करना कठिन है। अभी तक वह समय नहीं आया है जब उनकी सफलताओं का इतिहास लिखा जाय। जो बीज उन्होंने चम्पारन में—भारत में बोया था वे अंकुरित हो आये हैं, पर अभी उनका पौदा ही बन पाया है—उसके पूर्ण वृक्ष बनने और फूल-फल देने में अभी समय लगेगा, किन्तु यदि पौदे की हरियाली देखकर किसी भावी फल की मिठास का कोई अनुमान लगाया जा सकता है तो यह पूर्ण कृतज्ञतापूर्वक कहना होगा कि निकट-भविष्य में ही नया जीवन, नये विचार, नयी अभिलाषाएँ और नवयुग का प्रभात आ रहा है। भारतीय स्वराज्य का बीज सचमुच चम्पारन में बोया गया है और वहाँ के गरीब, असहाय और पददलित असामियों ने जो स्वतंत्रता उन शिक्षित, अतिसावधान और धनाढ्य प्लाण्टरों के विरुद्ध प्राप्त की है जो शक्तिशाली सरकार के संरक्षण में

रहते थे, वह सदियों से पद-दलित भारतीयों की स्वतन्त्रता का पूर्व-लक्षण है। वह स्वतन्त्रता अब वे अपने इस संघर्ष के द्वारा प्राप्त करके रहेंगे। भगवान् वह दिन शीघ्र लायें।"

मज़दूरों की विजय

दूसरा नाटक गांधीजी के अपने ही प्रान्त गुजरात में खेला गया। उन्होंने सूती कपड़े के निर्माण-केन्द्र अहमदाबाद को पहले ही अपना घर बना लिया था। सब से पहले तो उन्होंने अहमदाबाद नगर से कुछ मील की दूरी पर कोचरात्र गांव में अपना आश्रम स्थापित किया; पर बाद में वे साबरमती नदी के किनारे अपना डेरा उठा लाये। यह (साबरमती आश्रम) अहमदाबाद नगर से बहुत निकट और सूती मिलों के क्षेत्र से मिला हुआ है। गांधीजी के लिए यहां सब से बड़ा आकर्षण यह था कि साबरमती सेण्ट्रल जेल इस आश्रम के पास ही है। वे इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"चूँकि जेल जाना तो सत्याग्रही के लिए एक सामान्य और मानी हुई बात थी इसलिए मुझे वह जगह पसन्द आ गयी।"

अहमदाबाद के मिल-मालिकों और मजदूरों के बीच एक बड़ा झगड़ा शुरू हो गया था। गांधीजी की स्थिति बड़ी नाजुक थी क्योंकि बहुत से मिल-मालिकों से उनकी घनिष्ठता थी। किन्तु इस मामले में स्वयं मिल-मालिकों के नेता की बहन ने मजदूरों का पक्ष लिया था।

यद्यपि झगड़ा एक बोनस के सवाल को लेकर शुरू हुआ था, पर अन्त में वह महँगाई के प्रतिशतक पर आ गया। जब

दोनों ही दल (मिल-मालिक और मजदूर) गांधीजी के पास फैसला कराने गये तो उन्हों (गांधीजी) ने सारे मामले का अध्ययन किया और दोनों दलों को पंचायत का फैसला मान लेने के लिए राजी कर लिया। इस तरह निर्णय तो हो गया, पर दुर्भाग्यवश कुछ ही दिनों बाद कुछ मजदूरों को गलतफहमी हो गयी और उन्होंने फिर हड़ताल कर दी। इससे मिल-मालिकों को क्रोध आ गया जो समझौते से छुटकारा पाने के लिए किसी-न-किसी बहाने की खोज में थे। उन्होंने २२ फरवरी १९१८ को अपनी मिलों को ताला लगा देने की घोषणा कर दी। गांधीजी ने मिल-मालिकों और मजदूरों को समझाया, पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला। गांधीजी ने देखा कि कुल मिलाकर मजदूरों का पक्ष न्याय की ओर है। जब मिलों को सचमुच ताला लगा दिया गया, तो गांधीजी ने मजदूरों को सलाह दी कि वे अलाउन्स में ३५ प्रतिशत बढ़ाये जाने की मांग करें क्योंकि उनके विचार से यही प्रतिशतक उचित था। किन्तु मिल-मालिकों ने निश्चय किया कि वे २० प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ायेंगे। इस पर २६ फरवरी से नियमित हड़ताल शुरू हो गयी जिसमें हजारों मजदूर सम्मिलित हुए।

इसमें सन्देह नहीं कि गांधीजी ने मजदूरों को हड़ताल करने की सलाह दी थी। किन्तु ऐसा करने के पहले उन्होंने मजदूरों को सफल बनाने की ये शर्तें भी समझा दी थीं कि वे कभी हिंसा का आश्रय न लें, साथ न देनेवालों को मारें-पीटें नहीं, दान या आर्थिक सहायता पर निर्भर न करें और कैसी भी स्थिति आने पर दृढ़ बने रहें। हड़ताल के दिनों में अपना रोटी-पानी का खर्च चलाने के लिए वे कोई भी मजदूरी या काम-धन्धा करने का प्रयत्न ईमानदारी से करें।

मजदूरों ने यह सामान्य शपथ ली थी कि जब तक उन्हें

जुलाई की तनख्वाह से ३५ प्रतिशत और नहीं मिले तब तक वे काम पर न लौटेंगे। जितने दिन मिल बन्द रहेंगी वे कोई उपद्रव नहीं करेंगे और पूर्णतः अहिंसा का पालन करेंगे। वे कोई मार पीट या लूट-पाट नहीं करेंगे। वे मिल-मालिकों की सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचायेंगे। वे गन्दे शब्द मुँह से न निकालेंगे और पूर्णतः शान्ति कायम रखेंगे।

हड़ताल के दिनों में गांधीजी और उनके साथ काम करनेवाले व्यस्त रहे। वे मजदूरों के रहने के स्थान देखने गये और उन्हें सफाई और स्वास्थ्य के बारे में हिदायतें दीं, उन्हें औषधि-सम्बन्धी सहायता और अन्य प्रकार की मदद भी दी। प्रतिदिन उन्हें समझाने के लिए बुलेटिन निकालकर बांटे जाते थे। प्रतिदिन सभाएं की जाती थीं जिनमें नयी समस्याएं सुलझायी जाती थीं।

आर्थिक सहायता के बारे में गांधीजी बहुत कठोर थे। उनका विश्वास ऐसे संघर्ष में नहीं था जो धन के बल पर चलाये जाते हैं। उन्होंने प्रत्येक मजदूर को आदेश किया कि वह अपनी आजीविका भर को कोई काम करके स्वयं कमा ले। कुछ मजदूरों को अस्थायी तौर पर आश्रम के निर्माण-कार्य में लगा लिया गया जो उन दिनों बन ही रहा था। साथ ही गांधीजी मजदूरों को प्रतिदिन आश्वासन देते थे कि यदि भूखों मरने की नौबत आयेगी तो वे (गांधीजी) ही पहले मरेंगे; मजदूर नहीं।

मजदूरों का नैतिक बल एक पखवाड़े तक बड़ा ही शानदार बना रहा। इस बीच कुछ मिल-मालिक चालबाजी से काम लेने लगे। बहुत-सी अफवाहें उड़ायी गयीं और मजदूर संशय में पड़कर अपने नैतिक बल से विचलित होते प्रतीत हुए। ऐसे समय पर गांधीजी ने सहसा एक ऐसा निर्णय किया जो एकदम प्रभावशाली और मौलिक था। उन्होंने कहा कि जब तक ऐसी

(अवांछनीय) बातें बन्द न होंगी तब तक वे न तो भोजन करेंगे और न मोटर पर बैठेंगे।

उनके शब्द इस प्रकार थे—"पांच-दस हजार स्फूर्ति और दृढ़तायुक्त तेजवान मुखमण्डलों के बदले मैंने केवल एक-दो हजार मजदूर देखे जिनके चेहरे खिन्न और हतोत्साह थे।.... मैं उनमें से हूँ जिनका यह विश्वास होता है कि कैसी भी परिस्थिति आ जाने पर अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना चाहिए। मैं एक क्षण के लिए भी यह विचार सहन नहीं कर सकता कि आपने जो प्रतिज्ञा की है उसे भंग करें। जब तक कि आप सब को ३५ फी सदी की बढ़ोतरी नहीं मिल जाती या आप अपने उद्देश्य में पूर्णत: सफल नहीं हो जाते, मैं खाने को हाथ न लगाऊंगा, न मोटर में बैठूंगा।"

यह अनशन केवल तीन दिन चला। इससे सन्तुलन बदल गया। मजदूर फिर दृढ़ हो गए। अनशन का अप्रत्यक्ष प्रभाव मिल-मालिकों पर पड़ा और गांधीजी ने यह कहा कि उस हद तक उसमें दबाव का अंश भी था। किन्तु उन्होंने कहा कि वे उससे इसलिये नहीं बच सके कि वे मजदूरों को गिरने से बचाने के लिए और कोई भी उपाय काम में नहीं ला सकते थे।

अन्ततः हड़ताल के इक्कीस दिनों के बाद यह फैसला हुआ कि प्रोफेसर ध्रुव इस झगड़े का निर्णय पंच के रूप में अकेले ही दे दें। तीन मास की अवधि के बाद प्रोफेसर ध्रुव ने यह निर्णय दिया कि मिल-मजदूरों को उनकी जुलाई की तनख्वाह से ३५ प्रतिशत बढ़ोतरी मिलनी चाहिए।

इस मामले में गाँधीजी की क्रियात्मक अहिंसा और अहमदाबाद के मिल-मजदूरों के प्रति गांधीजी का प्रेम ऐसा घनिष्ट था कि उन्होंने उसके लिए अपना जीवन ही संकट में

डाल दिया। लगभग एक पखवाड़े के संघर्ष के बाद जब उन्होंने अनशन आरम्भ किया और इस प्रकार मजदूरों का साहस अटूट बनाकर समझौते की स्थिति उत्पन्न कर दी तो कुमारी फेरिंग नामक एक डेनिश महिला ने गांधीजी को तार दिया—"महान् प्रेम उस मनुष्य से ऊँचा किसी को नहीं जानता जो अपने आदमियों के लिए अपना जीवन समर्पित कर देता है।"

संघर्ष के अन्त में गांधीजी ने यह मन्तव्य दिया कि इस (संघर्ष) में घृणा या दुर्भावना के लिए कोई स्थान नहीं था और वे मिल-मालिकों के भी वैसे ही सेवक हैं जैसे मजदूरों के। श्री महादेव देसाई ने इस संघर्ष पर गुजराती में 'धर्मयुद्ध' नामक एक पुस्तिका लिखी थी जिसमें उन्होंने हड़ताल को शुद्धतम साधनों द्वारा परिचालित, दृढ़ निश्चय की शक्ति पर आधारित और दोनों पक्षों में कम-से-कम कटुतावाला संघर्ष कहा था। इसका परिणाम भी दोनों पक्षों के लिए लाभप्रद हुआ।

इस प्रकार अहमदाबाद के मजदूरों में शुरू किया गया कार्य वहां के मिल-मजदूर संघ द्वारा अब भी संचलित हो रहा है और मजदूरों की यह संस्था देश की सुदृढ़तम संगठित संस्थाओं में से है। यह गांधीजी द्वारा निर्धारित मार्ग पर चल रही है।

किसानों का जागरण

जिस समय अहमदाबाद में मजदूरों का संघर्ष चल रहा था, उससे पहले ही गाँधीजी ने गुजरात के खेड़ा जिले में किसानों के हित का कार्य आरम्भ कर दिया था। वह वर्ष उस जिले की रैयत के लिए बहुत खराब था। बरसात बिलकुल नहीं हुई थी, फिर भी सरकार ने किसानों की पुकार नहीं सुनी और लगान की वसूली अगले वर्ष के लिए मुल्तवी तक नहीं की। गाँधीजी किसानों की सहायता के लिए पहुच गये। वे किसानों से भी वैसे ही सुपरिचित हो गये जिस प्रकार मजदूरों से थे। वह उनकी मातृभाषा में बोल सकते थे और वे उनके प्रति स्वाभाविक रूप में अपनेपन का अनुभव करने लगे। इस बात से संघर्ष के समय दोनों (किसानों और गाँधीजी) को सहायता मिली। दूसरा बड़ा लाभ था श्री वल्लभभाई पटेल की प्राप्ति। यदि चम्पारन के संघर्ष में बाबू राजेन्द्रप्रसाद प्रकाश में आये, जो अब भारतीय विधान परिषद् के सभापति हैं, तो खेड़ा के संघर्ष ने श्री पटेल को सामने ला उपस्थित किया जो अब सरदार पटेल कहे जाते हैं और भारत के उप-प्रधानमंत्री हैं।

चम्पारन में गाँधीजी को संघर्ष का परिणाम अपेक्षाकृत सरलता से प्राप्त हो गया था। स्वयं किसानों के सत्याग्रह करने की आवश्यकता ही नहीं उत्पन्न हुई, पर खेड़ा में तो बाकायदा

लगान-बन्दी का आन्दोलन कर उस संघर्ष में सभी तरह के त्याग करने की तैयारी करनी पड़ी। यह घटना १९१८ ई० की है।

खेड़ा या 'कैरा' जिला गुजरात प्रान्त में है। वहाँ फसल पैदा नहीं हुई और अर्द्ध अकाल की स्थिति छा गयी। किसान उस वर्ष का लगान देने में असमर्थ हो गये। इस नियम के अनुसार कि केवल चौथाई पैदावर होने पर किसानों को लगान देने से छुटकारा मिल जायगा, खेड़ा के किसानों का उस साल का लगान स्थगित हो जाना चाहिए था। इस कष्ट-निवारण की कार्यवाही को उस वर्ष का लगान मुल्तवी कर देना कहते हैं। किन्तु सरकार ने यह वैध सहायता देने से भी इन्कार कर दिया। इस सम्बन्ध में प्रार्थनापत्र, आवेदन और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के प्रस्ताव सभी व्यर्थ हो गये।

गाँधीजी घटनास्थल पर पहुँच गये। स्थिति का अध्ययन कर लेने के बाद उन्होंने रिआया को सलाह दी कि वे लगान देना रोक लें। किसानों ने बड़ी उत्तमता के साथ इस आदेश का पालन किया और यह शपथ ली कि वे अपनी जमीन कानून के द्वारा जब्त हो जाने देंगे पर लगान न देंगे। जो लोग यह रक़म चुका सकने की स्थिति में थे उन्होंने भी अपने अपेक्षाकृत गरीब भाइयों के साथ सहानुभूति करते हुए लगान देने से साफ इन्कार कर दिया।

गाँधीजी ने खेड़ा के किसानों का मामला जनता और सरकार के सामने रखकर न्याय के लिए अपील की। उन्होंने उस जिले में काम करने और उनका साहस बनाये रखने के लिए स्वयं-सेवक भर्ती किये। श्री वल्लभभाई पटेल, जो उन दिनों अहमदाबाद में एक उदीयमान बैरिस्टर थे, इस संग्राम में सम्मिलित हो गये।

किसानों को नियमित रूप में राजनीतिक शिक्षा देना शुरू

कर दिया गया। उनके अन्दर से सरकारी पदाधिकारियों का भय निकाल दिया गया। उन्हें समझाया गया कि सरकारी पदाधिकारी तो वास्तव में जनता के सेवक हैं और उनका काम किसानों को हुक्म देना नहीं है। इससे किसानों को सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध खड़े होने और डराने-दबाने की धमकी से न दबने की प्रेरणा मिली। किन्तु किसानों को यह शिक्षा दी गयी थी कि वे गम्भीरतम उत्तेजना मिलने पर भी शान्त और नम्र बने रहें। उन्होंने अपनी सारी जायदाद की कुर्की और ज़मीन ज़ब्त होने की नोटिस आदि कार्यवाही धैर्यपूर्वक सहन कर ली।

सरकार ने कानून के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का अवसर भी उत्पन्न कर दिया। प्याज़ का एक खेत कुर्क किया गया। कानून के अनुसार यह जायज़ नहीं था। ऐसी अवस्था में गाँधीजी ने श्री मोहनलाल पण्ड्या और अपने सात-आठ अनुयायियों को आदेश किया कि वे कुर्क होने के बावजूद भी उस प्याज की फसल को खोद लें। उन्होंने ऐसा ही किया, और उन्हें गिरफ्तार करके जेल की सजा दे दी गयी। इससे लोगों का साहस और भी बढ़ा और जेल जाने का सारा भय गायब हो गया।

जब सरकारी अधिकारियों ने देखा कि लोग काबू में नहीं आ रहे हैं तो वे झुकने को तैयार तो हो गये, पर खुले तौर पर उन्होंने किसानों के प्रति न तो किसी रिआयत की घोषणा निकाली न उनसे सुलह की बातचीत चलायी। उन्होंने ऐसे किसानों पर दबाव डालना बन्द कर दिया जो लगान दे सकने के योग्य नहीं थे। लगान वसूल करनेवालों को इस आशय की एक सरकारी गश्ती चिट्ठी भेज दी गई थी। इससे कुर्की और नोटिस देना बन्द कर दिया गया। इस प्रकार सरकार ने चुपचाप लोगों के इस तर्क को स्वीकार कर लिया कि जो लगान अदा करने के योग्य नहीं हैं वे न दें।

सैद्धान्तिक रूप में सत्याग्रह की विजय हो गयी, पर उसमें पूर्ण विजय का महत्त्व नहीं आया। सरकार ने किसानों की सारी माँगें नहीं स्वीकार कीं, पर उनमें से कुछ को आंशिक कष्ट-निवारण के रूप में स्वीकार करके कुछ को सन्तुष्ट कर दिया। किसानों में तात्कालिक सफलता के भाव का अपने अन्दर अनुभव नहीं किया, न वे उस लाभ को समझ पाये जो उन्हें प्राप्त हुआ था। गाँधीजी ने यह मन्तव्य प्रकट किया—"अन्त को उत्तम तो तभी कह सकते हैं जब उससे सत्याग्रही आरम्भ की अपेक्षा अधिक दृढ़ और उत्साहशील बन जाय।" उन्होंने देखा कि लोग इससे हताश और स्फूर्तिहीन हो न गये और वे अधिकारियों के प्रति काफी विनम्र भी नहीं रहे। इसके अतिरिक्त सरकार लगान वसूल करने में भेद-भाव करके रिआया की एकता भंग कर देने में सफल हो गयी।

किन्तु इस आन्दोलन के जो अप्रत्यक्ष परिणाम हुए वे अधिक मूल्यवान थे। गुजरात के किसानों में व्यापक जागृति फैल गयी। वस्तुतः उन्होंने अपना भय और सुस्ती दूर कर दी और स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास का और पाठ सीख लिया।

इस संघर्ष का जिक्र करते हुए गाँधीजी अपनी आत्म-कथा में कहते हैं—"जनता के मन पर यह अमिट छाप पड़ गयी कि उसकी मुक्ति उसके अपने ही हाथों में है, उसकी सहन-शक्ति और त्याग-क्षमता में है। खेड़ा-संघर्ष के द्वारा सत्याग्रह ने गुजरात की भूमि में मजबूत जड जमा ली।"

यह पहला ही अवसर था जब गाँधीजी की पुकार पर भारतीय जनता ने कठिनाइयों और कष्ट-सहन का सामना किया और जब उन्होंने उसे सत्याग्रह की शिक्षा दी। उससे पाठ सीखा और प्रसन्नतापूर्वक कष्ट-सहन किया।

इस लड़ाई के बाद गाँधीजी ने इस बात का अनुभव किया कि स्वयंसेवकों की भर्ती कर उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे रिआया को सत्याग्रह-विज्ञान सिखा सकें। उन्होंने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह का रचनात्मक पहलू अभी तक जनता के लिए काफी आकर्षक नहीं बन पाया है, यद्यपि वह महत्व की चीज या उससे भी बढ़कर है।

सामूहिक सत्याग्रह का पाठ

जनता की क्षमता पर जैसा क्लेशकर भार करबन्दी-आन्दोलन का पड़ता है उतना और किसी भी सामूहिक आन्दोलन का नहीं। बम्बई प्रान्त का कानून है कि कर न देने के बदले सभी तरह की चल और अचल सम्पत्ति, चौपाये और रहने के मकान भी, यदि वे उस भूमिक्षेत्र में हुए, कुर्क हो सकते हैं और उन्हें ज़ब्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब सारे क्षेत्र में संघर्ष शुरू होता है तो उसमें पुरुष, स्त्री और बच्चे सभी जकड़ उठते हैं। उसके सिलसिले में जुर्माने और सज़ाएं होती हैं और क्रुद्ध सरकारी अधिकारी गैर-सरकारी ढंग और साधनों से भी काम लेने लगता है, यद्यपि ऐसी बातें कानून की अधिकार-सीमा की व्यतिरेक हैं।

बारडोली ने इस प्रकार के सभी कष्ट सहन कर लिये। यह शान्तिपूर्ण संस्था का एक आश्चर्यजनक कार्य था। कुछ समय के लिए तो इस (बारडोली) तालुका में सरकारी हुक्मनामों का चलना ही बन्द हो गया। सरकारी अफसरों तक को अपनी रसद (राशन) के लिए किसानों की आज्ञा लेनी पड़ती थी। १६२८ का बारदोली-सत्याग्रह वस्तुतः एक प्रमुख ऐतिहासिक संघर्ष था।

उस आन्दोलन में जो-जो बातें सम्मिलित थीं वे उस सारी

रैयतवाड़ी क्षेत्र के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं जहां भूमि-स्वामित्व किसानों का था। बम्बई सरकार की नौकरशाही ने इस आन्दोलन को कुचलने के लिये सारी शक्ति लगा ली, और वह तभी झुकी जब उसने देख लिया कि अब जनता के उत्साह को दबाया नहीं जा सकता।

यदि १६२२ ई० का असहयोग-आन्दोलन पूर्णत: ठीक रीति से चला होता, तो बारडोली तालुका भयंकर संघर्ष का केन्द्र बन गया होता—वह क्षेत्र असहयोग के सभी कार्य-क्रमों का स्थल बन गया होता और उसमें करबन्दी को भी क्रियात्मक रूप दिया जाता। किन्तु युक्तप्रान्त में चौरी-चौरा-काण्ड ने बारडोली को इस प्रतिष्ठा से वंचित कर दिया। गांधीजी ने असहयोग-आन्दोलन को हिंसा के कारण रोक देने का आदेश कर दिया। पर बाद में १६२८ में बारडोली ने इस कमी की पूर्ति कर दी, क्योंकि उसी वर्ष ऐसा महत्त्वपूर्ण करबन्दी-आन्दोलन आरम्भ किया गया जो सत्याग्रह के इतिहास में पथ-प्रदर्शक बन गया।

बम्बई-सरकार हर तीस वर्ष बाद प्रत्येक तालुका (तहसील) के लगान की पुनर्परीक्षा किया करती है जिसका मतलब अधि-कांश रूप में तो लगान की वृद्धि ही होता है। बारडोली और चौरासी नामक दो पड़ोसी तालुकों में उन्होंने लगान ३० फीसदी बढ़ाया। पहले विरोध में तो यह अभिवृद्धि घटा कर २२ प्रतिशत कर दी गयी, पर किसानों ने इस निर्णय का भी विरोध किया और यह मांग की कि लगान में कोई भी बढ़ोतरी करने के पहले एक खुली जांच की जानी चाहिए। सरकार ने इस विरोध की पर्वाह नहीं की।

बहुत धैर्यपूर्ण सोच-विचार के बाद किसान संघर्ष-क्षेत्र में उतरे। उन्होंने एक परिषद् करके प्रस्ताव पास किये और

अपने इरादे की उपयुक्त सूचना सरकार को दे दी कि यदि वह (सरकार) अपना फैसला न बदलेगी तो वे (किसान) लगान देना बन्द कर देंगे।

तालुका की जनसंख्या लगभग ८८,००० थी और नये परिमाण के हिसाब से लगान की मांग लगभग ६,५७,००० रुपये थी। गांधीजी ने परिस्थिति का अध्ययन किया और आन्दोलन की सफलता के लिए आशीर्वाद दिया। किसानों के अनुरोध पर सरदार वल्लभभाई पटेल ने आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण किया। सरदार ने किसानों में यह दृढ़ इच्छाशक्ति संचारित कर दी कि वे इस संघर्ष को अन्त तक पहुँचा कर छोड़ें। संघर्ष पूरी गम्भीरता के साथ आरम्भ हुआ।

सौभाग्यवश श्री महादेव देसाई ने इस आन्दोलन का पूरा वर्णन अपनी 'बारडोली की कहानी' पुस्तक में दिया है। उसके कुछ तथ्य यहां संक्षिप्त रूप में दिये जाते हैं।

सरदार वल्लभभाई पटेल ने तालुका का संगठन पूर्ण रीति से कर लिया था। कई वर्षों में तालुका के विभिन्न भागों में चार-पांच समाज-सेवा-केन्द्र खुल गये थे जो रचनात्मक क्रियाशीलताओं में लगे थे। उस ढांचे के आधार पर वहां सोलह नये शिविर (कैम्प) सुविधाजनक स्थानों में खोले गये और २५० स्वयंसेवकों को उनका कार्यभार सौंप दिया गया। इनके विशिष्ट कर्त्तव्य निर्धारित कर दिये गये। तालुका का सारा वातावरण सशस्त्र शिविर (कैम्प) के रूप में बदल गया था। युद्ध, त्याग, निर्भयता, प्रतिरोध हर एक की जबान पर थे। प्रतिदिन समाचार और आदेश के लिए बुलेटिन निकाले जाते थे। किसानों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे सभी तरह का अधिक से अधिक नुकसान पूर्णतः अहिंसक रहते हुए सहन करेंगे। बारडोली में एक प्रतिनिधि-परिषद् करके यह कठोर निर्णय

किया गया कि पुनपरीक्षा के बाद लगान के बारे में जो नया बन्दोबस्त किया गया है वह मनमानी, अन्यायपूर्ण और अत्याचारपूर्ण है। इस परिषद् ने सभी भूमि के अधिकारियों—किसानों से अनुरोध किया कि वे बढ़ा हुआ लगान तब तक का चुकायें जब तक कि सरकार पुराने लगान की रकम लेकर और लगान चुकती मान कर सन्तुष्ट न हो जाय अथवा सरकार एक ऐसी निष्पक्ष पंचायत न कायम कर दे जो सारे मामले की तहकीकात और जांच घटनास्थल पर करे। यह परिषद् १२ फरवरी १६२८ ई० को हुई थी।

पुरुष, स्त्री और बच्चे सभी ऐसे व्यक्ति त्याग करने को तैयार हो गये जिनकी सत्याग्रह में आवश्यकता होती और सरदार पटेल द्वारा बुलायी गयी सभा में बड़ी संख्या में जमा हो गये। कुछ ही दिनों में सारे तालुके मे बिजली की सी गति आ गयी और वातावरण १६२२ ई० के असहयोग-आन्दोलन की याद दिलाने लगा।

सरकार भरसक लोगों को बाध्य करके लगान वसूल करने के प्रयत्न करने लगी। उसने चापलूसी, रिश्वत, धमकी, जुर्माने, कैद, ज़ब्ती, और लाठी-प्रहार से काम लिया। उसने लोगों को जाति-भेद-द्वारा भड़का कर विभाजित करना चाहा। बहुत बड़े परिमाण में जायदाद ज़ब्त कर बाहरवालों के हाथ बेच दी गयी, क्योंकि कोई स्थानीय ख़रीदार उन चल या अचल सम्पत्तियों को लेने के लिए आगे नहीं आता था। सरकार ने १४०० एकड़ ज़मीन कुर्क करके उसे नीलाम-द्वारा बेचा। लोगों को धमकाने और आतंक फैलाने के लिए पठान नौकर रखे गये। पर इससे तालुका में एकता के भाव और भी बढ़ गये। सभी सरकारी प्रतिनिधियों और कुर्क की गयी सम्पत्ति ख़रीदनेवालों के विरुद्ध प्रबल सामाजिक बहिष्कार लागू कर दिया

गया, किन्तु उन विरोधियों को भी भौतिक आवश्यकता की वस्तुओं से वंचित नहीं किया गया।

सारे भारत की सहानुभूति बारडोली के संघर्ष से थी और लोग उसके वीरों को प्रशंसा की दृष्टि से देख रहे थे। इस संघर्ष में स्त्रियों ने पुरुषों से कम काम नहीं किया। व्यवस्थापिका सभा के कितने ही सदस्यों ने सरकार की दमन-नीति के विरोध-स्वरूप इस्तीफे दे दिये। इस मामले पर बृटिश पार्लियामेण्ट तक में बहस हुई। किसान अहिंसक रूप में बड़ी दृढ़ता के साथ डटे रहे। पांच-छः महीने के संघर्ष के बाद, सरकार ने घुटने टेक दिये और गवर्नर ने एक जांच समिति नियुक्त कर दी। जो सम्पत्ति कुर्क कर ली गयी थी वह किसानों को वापस दे दी गयी और जिन ग्राम-अधिकारियों ने इस्तीफे दे दिये थे वह अपनी-अपनी जगह पर फिर बहाल कर दिये गये। समिति ने यह पता लगाया कि किसानों की शिकायतें सारूप में सच हैं और लगान २२ प्रतिशत के बदले केवल ६। प्रतिशत अर्थात् रुपये पीछे एक आना बढ़ाया जा सकता है।

इस संघर्ष ने निस्सन्देहरूप में प्रदर्शित कर दिया कि सत्याग्रह-अस्त्र कितना कारगर है। रैयत का मामला न्यायपूर्ण तथा आक्रमण के अयोग्य था और उपाय पूर्णतः अहिंसक। इस ऐतिहासिक आन्दोलन के अन्त में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने गांधीजी को लिखा था—"आपका (१९२२ में) स्वप्न था कि बारडोली को सत्याग्रह का पूर्ण उदाहरण बनाया जाय, और बारडोली ने आपके उस स्वप्न को अपने निजी ढंग से समझा और पूर्ण कर दिया है।"

स्वतंत्रता के लिए सत्याग्रह

पिछले परिच्छेदों में मैंने शान्तिपूर्ण आन्दोलनों में से कुछ की रूपरेखाएँ प्रस्तुत की हैं। उनमें से कोई भी अखिल भारतीय पैमाने पर नहीं किया गया था, यद्यपि सारे देश ने उनमें दिलचस्पी ली थी। अब मैं उन छहों आन्दोलनों का संक्षिप्त चित्र उपस्थित करता हूँ जिनमें से सभी सारे भारत के मन पर छा गये थे। मैं एक ही परिच्छेद में उन सभी का वर्णन इसलिए कर रहा हूँ कि उन सब में एक प्रकार की एकरूपता है। इस छोटी पुस्तक में इनमें से एक का भी विस्तृत वर्णन नहीं दिया जा सकता। उन आन्दोलनों में से प्रत्येक अब भारत के इतिहास का अंग बन गया है और स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए इन सभी ने योग दिया है।

आजादी की लड़ाई एक लगातार चलनेवाली प्रक्रिया थी और जब उसका नेतृत्व १९१९ ई० में गाँधीजी के हाथों में आया तो उन्होंने देश को एक-एक कदम करके आगे बढ़ाया। मैंने यहां जिन सत्याग्रह-आन्दोलनों का जिक्र किया है उनमें से प्रत्येक अखिल भारतीय व्यापकता लिये हुए था, और समुद्र के ज्वार की लहरों की तरह इनमें से प्रत्येक एक दूसरे का अनुसरण करता रहा है। इस प्रकार ये १९१९ से १९४४ तक फैली लम्बी शृंखला की कड़ियाँ सिद्ध हुए हैं। इनमें से प्रत्येक आन्दोलन

शुरू करने के पहले उस पर स्वयं गाँधीजी ने भली भाँति सोच-विचार कर लिया था और फिर उसे आरम्भ करके उसका नेतृत्व किया था, और यह कहा जा सकता है कि इनके परिणामों का उत्तरदायित्व समष्टिरूप में उन्हीं पर था। फिर भी इनमें से प्रत्येक आन्दोलन अनेक रूप में एक दूसरे से भिन्न था। हर आन्दोलन अपने समय की विशिष्ट परिस्थिति का जवाब था। इस मामले में गाँधीजी उस कुशल कलाकार की भाँति थे जो कुछ आधारभूत भावनाओं को अनेक रूप में व्यक्त करता है। कहा जाता है कि टालस्टाय ने गाँधीजी के दक्षिण अफ्रीका-सत्याग्रह को एक विश्वव्यापी महत्त्व का संघर्ष बताया था। इस बात को कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत के अन्य सत्याग्रह-आन्दोलन कितने महत्त्वपूर्ण थे जो अन्ततः इस विस्तृत देश भारत को स्वतन्त्रता दिला कर रहे। १९३७ ई० में गाँधीजी ने लन्दन के किंग्सले हॉल से अमेरिका के लिए रेडियो ब्रॉडकास्ट करते हुए ठीक ही कहा था—"इस संघर्ष का, जिसने संसार का ध्यान अपनी ओर खींच लिया है, कारण इस तथ्य में नहीं है कि हम हिन्दुस्तानी स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं, पर वह इस तथ्य में है कि हमने जिन साधनों का उपयोग किया है उनका और किसी भी ऐसे देश के लोगों ने नहीं किया जिसका कोई तालिकायुक्त प्रमाण हो। जो साधन हमने अपनाये हैं वे रक्तपात के नहीं, न हिंसा और कूटनीति के हैं जैसा कि आजकल समझा जाता है। वे शुद्ध और सीधी-सादे रूप में सत्य और अहिंसा के साधन हैं।"

यह छहों आन्दोलन पचीस वर्ष की अवधि के अंदर (६ अप्रैल १९१९ से ५ मई १९४४ तक) चलाये गये थे। कुल छः वर्ष, आठ मास और दो दिन क्रियात्मक रूप में चले थे। इसमें से भी चार वर्ष ग्यारह मास तक तो क्रियात्मक अक्षय-प्रतिरोध

जारी रखा गया। इन छः आन्दोलनों में से दो ऐसे थे जिनमें केवल चुने हुए व्यक्ति ही सविनय-अवज्ञा करने के लिए अधिकारी थे। अन्य चारों ही सामूहिक सत्याग्रह थे जिनमें लाखों पुरुष-स्त्रियों और बच्चों तक ने भाग लिया और अहिंसा के अनुशासन का पालन कठिन परिस्थितियों में भी किया।

(१) रौलट ऐक्ट सत्याग्रह १९१९

यह आन्दोलन साररूप में एक ऐसी पुकार थी जो प्रतिज्ञा-बद्ध व्यक्तियों ने ऐसे कानूनों का उल्लंघन करने के लिए की थी जो प्रतिकूल और विरक्तिकर थे। उदाहरण के लिए उन दिनों प्रचलित दमनकारी प्रेस-कानून और 'क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट ऐक्ट' (जो ३ मार्च १९१९ को पास हुआ था) जिसे 'रौलट ऐक्ट' भी कहते हैं ,इसी तरह के कानून थे। सरकार ने जब इस आन्दोलन को जितना ही दबाने का प्रयत्न किया वह उसी अनुपात से सामूहिक रूप में और भी बढ़ता गया और स्थानीय मजिस्ट्रेटों की दी हुई आज्ञाओं को लोगों ने सहस्रों की संख्या में भंग किया।

पहले विश्वव्यापी महासमर में प्रभावपूर्ण ढंग से भाग लेने के बाद युद्ध समाप्त हो जाने पर भारत यह आशा कर रहा था कि उसे आजादी की एक उदारतापूर्ण किस्त मिलेगी, किन्तु उसके बदले रौलट बिल आ गया जिसके द्वारा भारतीयों के नागरिक अधिकारों को भी कुचल देने का उपाय किया गया। भारत के राजद्रोही और क्रान्तिकारी जुर्मों पर रौलट की रिपोर्ट १९ जनवरी १९१९ को प्रकाशित हुई थी और रौलट बिल ६ फरवरी को सुप्रीम लेजिस्लेटिव कौन्सिल में पेश किया गया। २४ फरवरी को गाँधीजी ने यह घोषणा कर दी कि यदि यह बिल कानून के रूप में पास कर दिया गया तो वे सत्याग्रह-आन्दोलन अपने नेतृत्व में चलायेंगे। बिल नं० २

तो रोक लिया गया, पर बिल नं० १ को 'इंडियन क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ड एक्ट' (संशोधित भारतीय दण्ड-विधान) के नाम से ३ मार्च १९१९ को पास कर दिया गया। जब तक बिल पास नहीं हुआ था गाँधीजी सारे देश का दौरा करने और वक्तव्य प्रकाशित करने में लगे थे। एक सत्याग्रह-समिति की स्थापना कर दी गयी और गाँधीजी ने १८ मार्च को एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार कर लिया। इस प्रतिज्ञा में दोनों बिलों को अन्याय-पूर्ण और स्वतन्त्रता तथा न्याय के सिद्धान्तों के लिए विध्वंस-कारी और व्यक्तियों के उन आरम्भिक अधिकारों का विनाशक कहा गया जिनपर सारे भारत की और स्वयं राज्य की रक्षा आधारभूत थी।

गाँधीजी ने २८ फरवरी १९१९ को एक घोषणापत्र निकाल कर कहा—"जो कार्यवाही की गयी है वह सम्भवतः भारत के इतिहास में अत्यन्त गम्भीर है।...प्रतिज्ञाबद्ध भारतीय सत्याग्रही जिन्होंने सब प्रकार के कष्ट-सहन का दृढ़ निश्चय किया है, उस सरकार के प्रति जिसके विरुद्ध उनकी कोई दुर्भावना नहीं है, एक अपरिहार्य अपील करते हैं और हिंसा के प्रभाव में विश्वास करनेवालों की शिकायतें दूर करने का एक ऐसा साधन बताते हैं जो अचूक है और जो उसका प्रयोग करने वालों के लिए भी वैसे ही एक आशीर्वाद है जैसा उनके लिए है जिनके विरुद्ध उसका प्रयोग किया जाता है।...सत्याग्रहियों को इस बात का विश्वास है कि रोग काफी गम्भीर है और हल्की दवाइयाँ बिलकुल बेकार हो चुकी हैं।

३० मार्च को सत्याग्रह आरम्भ करने का निश्चय हो चुका था; पर बाद में तारीख बदल कर ६ अप्रैल कर दी गयी थी। दुर्भाग्यवश तारीख बदल जाने का समाचार दिल्ली और कुछ अन्य स्थानों को समय पर नहीं पहुंचा, इसलिए उन स्थानों में

३० मार्च को ही सत्याग्रह दिवस मना लिया गया, 'सत्याग्रह-दिवस' के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देते हुए गाँधीजी ने कहा था—"सत्याग्रह मुख्य रूप से एक धार्मिक आन्दोलन है। यह शुद्धि और प्रायश्चित्त की प्रक्रिया है। यह आत्मयंत्रणा या कष्ट-सहन द्वारा शिकायतें दूर करने या सुधार करने के लिए काम में लाया जाता है। ६ अप्रैल को...विनम्रता और प्रार्थना का दिवस मनाना चाहिए।" कार्यक्रम का विवरण इस प्रकार रक्खा गया था—(१) चौबीस घण्टे का अनशन किया जाय, पर सरकार पर दबाव डालने के लिए भूख-हड़ताल के रूप में नहीं। यह उपवास सत्याग्रही भद्र-अवज्ञा के लिए अपनी सत्पात्रता सिद्ध करने के लिए आवश्यक अनुशासन के रूप में करें। अन्य लोगों के लिए यह (अनशन) इस बात का संकेत होगा कि उनकी भावनाओं को किस गहराई तक आघात लगा है। (२) 'सत्याग्रह-दिवस' को सभी तरह के काम-काज बन्द रक्खे जायँ। (३) सार्वजनिक सभाएँ करके इस आशय के प्रस्ताव पास किये जायँ कि रौलट एक्ट वापस ले लिया जाय। यह कार्यक्रम सर्वसाधारण के लिए थे।

प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रहियों के लिए एक विशेष कार्यक्रम था। उन्हें सत्याग्रह-समिति ने आदेश किया था कि वे उस कानून का विनम्रतापूर्वक उल्लंघन करें जो जब्त साहित्य और रजिस्टर्ड अखबारों पर लागू होता था। स्वयं गाँधीजी ने एक बिना-रजिस्ट्री कराया हुआ पत्र—'सत्याग्रही' ७ अप्रैल १९१९ को प्रकाशित कर दिया। यह केवल आधे पृष्ठ का पत्र था और इसमें अन्य बातों के अतिरिक्त सत्याग्रहियों के लिए ये आदेश थे कि उन्हें जेल-यात्रा, जुर्माना, सम्पत्ति की कुर्की आदि को बिना छुटकारा या बचाव की चेष्टा किये किस प्रकार सहन करना चाहिए।

सारे भारत में इसका अनुकूल उत्तर मिला। अधिकांश स्थानो में शान्तिपूर्ण हड़तालें हुई और साथ ही लोगों ने अनशन और प्रार्थना का कार्यक्रम भी सम्पन्न किया। लाखों लोगों ने कार्यक्रम में भाग लिया। दुर्भाग्यवश कुछ केंद्रों में पुलिस और प्रदर्शनकारियों में भिड़न्त हो गयी। दिल्ली में पुलिस ने गोलियाँ चलायीं जिसमें पाँच व्यक्ति मरे और कितने ही घायल हुए। पंजाब की स्थिति शीघ्रतापूर्वक बिगड़ने लगी जिसकी चरमसीमा जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड तक पहुँची जहाँ सरकारी रिपोर्ट के अनुसार जनरल डायर ने चार-सौ असहाय निहत्थों को गोली चलाकर मौत के घाट उतार दिया और लगभग एक हजार को घायल कर दिया। फौजी और मुल्की अधिकारियों द्वारा (मार्शल लॉ जारी करके), कितनी ही क्रूरताएँ और लज्जाजनक नृशंसताएँ की गयीं—सार्वजनिक रूप में बेत लगाए गए, जमीन पर रेंग-रेंग कर चलने का हुक्म हुआ और तात्कालिक न्याय करने का स्वांग आदि किये गए।

गाँधीजी ने इस बात का अनुभव करके कि सामूहिक हिंसा आरम्भ हो गयी है, १८ अप्रैल को सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित कर दिया। उन्होंने एक वक्तव्य निकाल कर कहा—"मुझे सत्याग्रह में अब पहले की अपेक्षा अधिक विश्वास हो गया है। मेरी सत्याग्रह-विधान के प्रति जो धारणा है उससे मुझे प्रेरणा मिली है कि मैं सत्याग्रह स्थगित करने की सलाह दूँ।......मैं बुराई की शक्तियों को समझता हूँ।...अहमदाबाद और वीरमगाँव में जो सामूहिक हिंसाएँ हुई हैं उनसे सत्याग्रह का कोई सम्बन्ध नहीं है। सत्याग्रह न तो किसी स्फीति का कारण है न अवसर। सत्याग्रह की उपस्थिति ने यदि कुछ किया है तो केवल नियन्त्रण।......पंजाब की घटनाओं का सत्याग्रह से सम्बन्ध नहीं है। ......ऐसी अवस्था में सत्याग्रह

का काम अब यह होना चाहिए कि वह अधिकारियों को अपने सभी प्राप्य साधनों द्वारा गैर-कानूनी क्रियाशीलताओं को दबाने और शान्ति-स्थापना करने के लिए सहयोग दे।......हम निर्भीक होकर 'सत्य' और 'अहिंसा' के सिद्धान्त का प्रसार करें और तभी हम सामूहिक सत्याग्रह करने के योग्य हो सकते हैं।..."

२१ जुलाई १९१९ को गाँधीजी ने एक दूसरा वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने कहा कि सरकार की ओर से शुभेच्छा का चिह्न प्रकट होने और अनेक मित्रों से परामर्श प्राप्त करने के कारण वे सविनय-अवज्ञा आन्दोलन को फिर न जारी करेंगे, क्योंकि उनका उद्देश्य सरकार को परेशान करना नहीं है। उन्होंने सत्याग्रहियों से अनुरोध किया कि वे स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग और हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार करें। फिर भी जिस रौलट ऐक्ट के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन आरम्भ किया गया था, उसकी विफलता निश्चित हो गयी। दो बिलों में से एक तो कानून का रूप ही नहीं धारण कर सका, और जो कानून बना, वह कभी अमल में नहीं लाया गया। सत्याग्रह-संग्राम का ध्येय प्राप्त हो गया।

(२) अहिंसात्मक असहयोग

रौलट ऐक्ट के विरुद्ध अप्रैल १९१९ में सत्याग्रह हुए अभी एक वर्ष मुश्किल से बीता था कि हण्टर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हो गयी। उसने पंजाब के हत्याकाण्ड से सम्बद्ध सरकारी अफसरों को निर्दोष सिद्ध कर दिया और इस प्रकार जलियांवाला बाग के भीषण हत्याकाण्ड और पंजाब की अन्य क्रूरताओं के लिए उत्तरदायी अफसरों को दूध के धुले—निष्कलंक बना दिया।

एक दूसरी शिकायत ने, जिसका विशेष सम्बन्ध हिन्दुस्तान के

मुसलमानों से था, इस बेइज्जती में और भी अभिवृद्धि कर दी। युद्ध के दिनों में बृटिश प्रधान मंत्री ने उनसे वादा किया था कि तुर्की को ऐसी शर्तें दी जायँगी जिससे खिलाफत की पवित्रता पर कोई आँच न आये। किन्तु २० मई १९२० को सन्धि की जो शर्तें प्रकाशित हुईं उनसे उपर्युक्त बात प्रमाणित नहीं हुई। इस प्रकार जब पंजाब के हत्याकाण्ड और खिलाफत की अपवित्रता के मामले एक में मिल गए तो गाँधीजी दूसरा सत्याग्रह आरम्भ करने को तैयार हो गए। इस आन्दोलन ने एक बार अहिंसात्मक असहयोग का रूप धारण किया और इसकी घोषणा १ अगस्त १९२० को कर दी गयी।

गाँधीजी ने १० मार्च को जो घोषणा प्रकाशित की थी उसमें इस बात का स्पष्ट निर्देश मौजूद था कि असहयोग शीघ्र ही आनेवाला है। गाँधीजी ने उसमें कहा था—"यदि हमारी मांगें पूरी न की गयीं तो अपने कर्त्तव्य के बारे में भी एक शब्द कह दूँ। बर्बरता का ढंग चाहे प्रकट रूप में हो या गुप्त रूप में, उसे युद्ध ही कहा जायगा। इसे तो हमें इसलिए भी रोकना ही होगा कि यह अमल में नहीं लाया जा सकता।.......ऐसी अवस्था में असहयोग ही हमारे लिए एकमात्र मार्ग रह जाता है। यह सबसे साफ उपाय है क्योंकि हिंसामुक्त होने की अवस्था में यह सब से अधिक प्रभावशाली है। सरकार को दिये जानेवाले सभी सहयोगों को स्वेच्छापूर्वक वापस ले लेना ही सार्वजनिक भावना और असन्तोष की कसौटी होगी।..."

दूसरे राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह के सम्बन्ध में 'यंग इण्डिया' में २८ जुलाई १९२० को गाँधीजी ने लिखा—"भारत के इतिहास में १ अगस्त उतनी ही महत्वपूर्ण घटना-तिथि होगी जैसी कि गत वर्ष ६ अप्रैल थी। ६ अप्रैल को रौलट एक्ट के अन्त का आरम्भ-दिवस था।...जो शक्ति एक अनिच्छापूर्ण सरकार

के हाथ से न्याय छीन सकती है वह सत्याग्रह की शक्ति है, चाहे उसे सविनय-अवज्ञा कहें या असहयोग।......गत काल की तरह इस बार भी सत्याग्रह का आरम्भ अनशन और प्रार्थना में होगा।......कार-बार बन्द रखे जायंगे और यह प्रस्ताव पास करने के लिए सभाएँ की जायँगी कि सन्धि की शर्तों में संशोधन किया जाय और पंजाब के मामले में न्याय किया जाय, और साथ ही यह भी कि जब तक न्याय न किया जायगा तब तक असहयोग को फिर-फिर दुहराया जाता रहेगा। उसी दिन से उपाधियाँ लौटायी जाने लगेंगी।...किन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि हम संगठन करें और ऐसी व्यवस्था और अनुशासन विकसित कर लें।"

इसके बाद गाँधीजी ने फिर पूर्ण सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया। उन्होंने जनता को बताया—"मेरा कहना है कि पागलपन का जवाब पागलपन से न देकर विवेक से दीजिए फिर तो परिस्थिति आपके वश में होगी।"

खिलाफत कमेटी ने २८ मई १९२० को ही असहयोग की स्वीकृति दे दी और कांग्रेस के विशेष अधिवेशन ने उसे ४ सितम्बर १९२० को मंजूर कर लिया।

इस आन्दोलन को 'प्रगतिवादी अहिंसात्मक असहयोग' नाम मिला। इसमें पहली बात थी—पंचमुखी बहिष्कार जिसमें उपाधियों और प्रतिष्ठाओं का बहिष्कार, व्यवस्थापिका सभाओं के चुनावों का बहिष्कार, स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार, अदालतों और अदालती पचायतों का बहिष्कार और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार। इस आन्दोलन का एक रचनात्मक पहलू भी था। राष्ट्रीय विद्यालय और संस्थाएं खोलनी थीं, पंचायती अदालतें और अदालतें स्थापित होनी थीं, चरखे की कताई शुरू करनी थी, फिर सरकारी मजलिसों, दरबारों और सभी अर्द्ध-

सरकारी या सरकारी समारोहों का बहिष्कार करना था। शराब और नशीली चीजों की बिक्री और उपयोग शान्तिपूर्ण धमकी के द्वारा समाप्त करना था। लोगों को हिदायत कर दी गयी थी कि वे मुल्की या फौजी नौकरी के लिए रँगरूट के रूप में न भर्ती हों।

इसके पूर्व देश में ऐसी जागृति कभी भी नहीं आयी थी, न लोग इतने क्रियाशील, संगठित, दृढ़संकल्प ही हुए थे जैसे १९२१-२२ ई० में हो गए थे। हिन्दू और मुसलमान मानो जुड़कर एक सम्प्रदाय के लोग बन गए थे। आन्दोलन सादी हड़ताल, अनशन और प्रार्थना से शुरू हुआ और वन की आग की भांति फैल गया। जनता ने मद्य-निषेध के आन्दोलन को स्वतःक्रियाशील होकर चलाया और शान्तिपूर्ण धरने के द्वारा उस (निषेध) को लागू करवाया। कहीं-कहीं छिट-फुट सामूहिक हिंसा भी हुई, पर कुल मिलाकर संघर्ष अहिंसात्मक, शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण रहा। सैकड़ों राष्ट्रीय विद्यालय खुल गए। कांग्रेस के सदस्यों की संख्या ५० लाख तक पहुँच गयी। तिलक स्वराज्य-फण्ड में अपील की रकम (एक करोड़ रुपये) से अधिक धन—१ करोड़ १५ लाख रुपये जमा हो गया। देश में लगभग २० लाख चरखे चलने लगे।

अपनी ओर से सरकार ने सामूहिक गिरफ्तारियाँ कीं। कोई भी प्रभावशाली कार्यकर्त्ता जेल के बाहर नहीं छोड़ा गया। संयुक्त प्रदेश और बंगाल में स्वयंसेवक दलों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया और सविनय-अवज्ञा के लिए धड़ाधड़ सामूहिक गिरफ्तारियाँ आए दिन की बात हो गयी।

कांग्रेस का जिस समय (दिसम्बर १९२१ का) अधिवेशन हुआ तो ३० हजार से अधिक कांग्रेसी कार्यकर्त्ता जेल में जा चुके थे। इधर कांग्रेस ने ऐसे ५० हजार नये स्वयंसेवक भर्ती

करने का निश्चय किया जो अहिंसा की प्रतिज्ञा ले सकें। गांधीजी १६२२ के आरम्भ में एक व्यापक करबन्दी आन्दोलन बारडोली में शुरू करना चाहते थे, पर जब चौरी-चौरा काण्ड में २० पुलिस कानिस्टेबलों और एक सब-इन्सपेक्टर को मौत के घाट उतार दिया गया और इसके अतिरिक्त प्रिन्स आफ वेल्स के भारत आने पर दंगे होने लगे, तो गांधीजी ने कांग्रेस कार्यकारिणी समिति को समझा-बुझाकर सामूहिक सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन स्थगित करा दिया और विस्तृत रचनात्मक कार्यक्रम चालू करने का निर्णय कर डाला। १० मार्च को गांधीजी स्वयं गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें राजद्रोहात्मक लेख लिखने के कारण छः साल कैद की सजा दे दी गयी। गांधीजी ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा कि यह तो उनका कर्त्तव्य है कि वे उस सरकार के प्रति असन्तोष उत्पन्न करनेवाले उपदेश दें, और उन्होंने अदालत से यह भी अनुरोध किया कि वह उन्हें उस अपराध की पूरी-पूरी सजा दे।

यद्यपि १६२०-२२ ई० के आन्दोलन का आसन्न ध्येय प्राप्त नहीं हो सका, पर उससे जो अप्रत्यक्ष लाभ हुए वे बहुमूल्य थे। गांधीजी ने घोषित किया कि उस अवधि में देश यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम तीस वर्ष आगे बढ़ गया था। कहते हैं कि उस समय बम्बई के गवर्नर ने यह कहा था कि आन्दोलन सफलता से केवल एक इंच दूर रह गया था।

(३) स्वराज्य के लिए सविनय-अवज्ञा—१६३०-३१

उसके बाद का कदम किसी खास शिकायत को दूर करने के लिये नहीं बल्कि स्वयं स्वराज्य के लिए था। यद्यपि १६२४-२६ तक पांच-छः साल कांग्रेस के लिए रचनात्मक कार्यशीलता के थे, तो भी यह भावना विशेषकर युवकों में जोर पकड़ती

जा रही थी कि भारतीय स्वाधीनता के लिए घोषणा करने का समय परिपक्व हो चुका है। अबतक कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य की बात किया करती थी, किन्तु दिसम्बर १६२७ ई० के कांग्रेस-अधिवेशन में इस घोषणा के साथ प्रस्ताव पास हुआ—"भारतीयों का ध्येय पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना होगा।" अवांछनीय और अनचाहे मवश्वेत राजनीतिक सुधार-सम्बन्धी (१६२८-२६ ई०) साइमन कमीशन के जवाब में कांग्रेस ने अपनी एक निजी कमेटी इसलिए नियुक्त की थी कि वह भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य का विधान तैयार करे। १६२८ ई० के अन्त में सर्वदल सम्मेलन ने उसे स्वीकार भी कर लिया। कांग्रेस का दिसम्बर १६२८ का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ जिसने सर्वदल सम्मेलन द्वारा स्वीकृत विधान को इस शर्त पर मान लेने का प्रस्ताव पास किया कि बृटिश सरकार उसे ज्यों का त्यों ३१ दिसम्बर १६२६ के पहले स्वीकार कर ले। किन्तु यदि वह बृटिश सरकार द्वारा अस्वीकृत हो जाता है तो कांग्रेस अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के लिए संगठित करने को स्वतन्त्र होगी, देश को कर न देने का परामर्श देगी और सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन को उस ढंग से संचालित करेगी जैसा कि निश्चय होगा। सरकार ने इस प्रस्ताव की ओर ध्यान नहीं दिया, और इसीलिए कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन ने (दिसम्बर १६२६ में) कांग्रेस का ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य से पूर्ण स्वतन्त्रता कर दिया। उसने व्यवस्थापिका सभाओं के कांग्रेसी सदस्यों को आदेश दिया कि वे अपने इस्तीफे दाखिल कर दें और जनता को आदेश किया कि वह चुनाव में भाग ही न ले। इस अधिवेशन ने राष्ट्र से अपील की कि वह कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम को उत्साहपूर्वक संचालित करे। उसने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति को अधिकार दिया कि

वह जब ठीक समझे सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन का कार्यक्रम आरम्भ कर दे जिसमें टैक्स अदा न करना भी सम्मिलित हो। यही १६३० के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन का विधिवत् श्री-गणेश था।

कांग्रेस की कार्य-समिति ने निश्चय किया कि २६ जनवरी को सारे देश में स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाय। फरवरी में उसने गांधीजी को अधिकार दिया कि वे जिस प्रकार ठीक समझें सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन आरम्भ कर दें। उसने कहा कि पूर्ण स्वाधीनता के लिए किया जाने वाला यह आन्दोलन आरम्भ कर दिया जाय और वह केवल ऐसे व्यक्तियों के नियन्त्रण में रखा जाय जो अहिंसा को अपने विश्वास का विषय मानते हों।

गांधीजी ने इस संघर्ष का समारम्भ साबरमती से डाण्डी के लिए कूच करके किया। इस कूच का ध्येय था नमक-कानून तोड़ना। २०० मील की पैदल यात्रा ५ अप्रेल को समाप्त कर ली गयी। ६ अप्रेल को गांधीजी ने बिना टैक्स वाले नमक की एक चुटकी उठाकर उसका कानून तोड़ दिया। इस पर सारे भारत में संघर्ष आरम्भ हो गया। यद्यपि गांधीजी ४ मई को गिरफ्तार कर लिये गये, पर आन्दोलन का नेतृत्व एक के बाद दूसरा संचालक क्रमशः लेता ही गया—एक व्यक्ति जेल जाता तो दूसरा उसके स्थान पर आ डटता। नमक पर छापा मारना शुरू कर दिया गया और सरकार का दमन-कानून अधिकाधिक कठोर होता गया। भारत एक बहुत बड़ा जेल-खाना हो गया।

इस आन्दोलन में पुलिस की लाठी खूब काम में आयी और कई नगरों में गोलियाँ भी चलीं जिससे सिद्ध हो गया कि सरकार बड़ी ही नृशंसता के साथ परिस्थिति पर काबू पाने का

प्रयत्न कर रही हैं।

नमक के कारखानों और भण्डारों पर तीन-चार प्रान्तों के विभिन्न स्थानों में जो छापे पड़े वह इस आन्दोलन की एक नयी बात थी। धरसाणा (बम्बई के निकट) में नमक पर जो धावा मारा गया उसे देखने के लिए विदेशी पत्र-सम्वाददाता और बहुत से निष्पक्ष पर्यवेक्षक भी पहुँचे आये थे। स्वयंसेवकों ने अपने रक्त से इतिहास लिख डाला। धरसाणा और बड़ाला के नमक-सत्याग्रह में जो धावे किये गये उनके अहिंसक और निष्कलंक छापेमारों की आश्चर्यजनक सहन-शक्ति और अनुशासन की प्रशंसा मि० ब्रेलसफोर्ड और स्लोकोम्बे ने मुक्तकण्ठ से की है। २१ महीनों में २५०० स्वयंसेवकों ने धरसाणा के सरकारी नमक भण्डार पर धावा बोला था। इनमें २६० तो लाठी-प्रहार से घायल हो गये जिसके फलस्वरूप दो की मृत्यु हो गयी। पन्द्रह हजार लोगों ने—जिनमें स्वयंसेवक भी थे और गैर-स्वयंसेवक भी, बड़ाला पर धावा बोला था। वहाँ लाठी-प्रहार से लगभग १५० आहत हुए। सनीकट्टा में पन्द्रह हजार लोगों तक ने नमक भण्डार पर धावा बोला था और सैकड़ों मन सरकारी नमक उठा ले गये। किन्तु सत्याग्रह में यह नहीं देखा जाता कि कितनी चीज उठायी गयी है, पर देखा जाता है लोगों का साहस, उल्लंघन-क्षमता और खुली कार्यवाही, जो बिना किसी हिंसा या प्रतिहिंसा के की जाती है और जिसमें यह विचार स्पष्ट होते हैं कि कष्ट-सहन करने होंगे और अधिकार-रक्षा करनी होगी।

'न्यू फ्री मैन' पत्र के प्रतिनिधि मि० वेब ने धरसाणा के बारे में इस प्रकार लिखा—"मेरे अठारह वर्ष के (रिपोर्ट देने के) कार्य-काल में......मैंने कभी भी ऐसा घोर दुःखद दृश्य नहीं देखा जैसा कि धरसाणा में दिखायी दिया है। कभी-कभी यह दृश्य ऐसा करुणाजनक हो उठता था कि मुझे घटना-स्थल से कुछ

समय के लिए हट जाना पड़ता था। इस धावे का एक आश्चर्य-जनक रूप था स्वयंसेवकों का अनुशासन। ऐसा प्रतीत होता था कि वे गाँधीजी के अहिंसा-सिद्धान्त से पूर्णतः अनुप्राणित हो चुके हैं।" इस मौके पर बदला लेने और प्रतिहिंसा की एक भी घटना नहीं हुई—यहाँ तक कि मौखिक शाप भी नहीं दिया गया। यह धावा कई दिन तक इसी प्रकार चलता रहा।

लोगों ने आदर्श धैर्य प्रदर्शित किया और अपने-आपको पूर्णतः अहिंसा के मार्ग पर चलाया; पर पुलिस और फ़ौज ने घोर क्रूरता और पाशविकतापूर्वक उन हज़ारों निहत्थों पर आक्रमण किया जो अपने देश के लिए अपना रक्त बहाने को गये थे। बहुत बार तो निरपराध दर्शक भी सैकड़ों की संख्या में बुरी तरह पीटे गये।

सारे वर्ष में अनेक आर्डिनेन्स (काले कानून) लागू किये गये। आये दिन पुलिस लोगों पर लाठी-प्रहार और मारपीट करती थी। अकेले अप्रैल और मई के महीनों में उन्तीस जगहों पर गोलियाँ चलायी गयीं जिनसे १११ व्यक्ति मरे और ४२२ घायल हुए। पर लोग शान्त रहे और अपनी ओर से कोई हिंसा न करके उन्होंने स्वयं कष्ट-सहन कर लिया। इस आन्दोलन में स्त्रियों ने बहुत बड़ी संख्या में भाग लिया और अत्यन्त कठोर व्यवहार होने पर भी अटल रहीं।

इस बीच समझौते की बातचीत करने के लिए भी प्रयत्न हुए। यह चर्चा चलानेवाले बीच के लोग थे जिनमें मि० स्लोकोम्बे, सर्वश्री सप्रू, जयकर और मि० होरेस अलेग्जैण्डर मुख्य थे। किन्तु इनमें से सभी असफल हुए। भारत में यह सब होने पर भी लन्दन में जो गोलमेज़ कान्फरेन्स होने जा रही थी उसने गाँधीजी के छुटकारे में शीघ्रता उत्पन्न कर दी। २६ जनवरी १९३१ को गाँधीजी और उनके २६ साथी जेल से बाहर

आये और उन्हें सुलह की बातचीत में लगाया गया जिसके परिणामस्वरूप ५ मार्च १९३१ को गाँधी-इर्विन-समझौता हुआ। लार्ड इर्विन और गाँधीजी में जो पारस्परिक सद्भाव स्थापित हुआ उससे समझौते की बातचीत सफलतापूर्वक समाप्त हुई। यह समझौता कांग्रेस और उसके अहिंसा-सिद्धान्त के लिए एक नैतिक विजय थी। किन्तु सरकार ने देश को कोई वास्तविक राजनीतिक शक्ति नहीं दी। इस समझौते ने कोई वास्तविक शान्ति तो नहीं स्थापित की; हाँ, इससे देश को थोड़ा साँस लेने का मौका मिल गया।

१९३०-३१ में आन्दोलन पूरे साल भर चला। राष्ट्रीय भारत ने एक कठोर संघर्ष चलाया और सब तरह की कठिनाइयाँ और नुकसान खुशी से झेल लिए और हिंसा करने का विचार तक त्याग दिया। ब्रिटिश सरकार सभी प्रकार के आधुनिक शास्त्रास्त्रों से पूर्णतः सुसज्जित होकर आर्डिनन्सों (काले कानूनों), लाठी-प्रहारों और आतंक के अन्य साधनों द्वारा भारत के उत्साह को कुचल देना चाहती थी। इस संघर्ष में सत्याग्रह का मुख्य रूप था नमक-कानून का सविनय भंग, सरकारी नमक-क्षेत्रों और भण्डारों पर धावा करना, आर्डिनन्सों का उल्लंघन, देश के कुछ भागों में करबन्दी-आन्दोलन, प्रेस सम्बन्धी कानूनों का सविनय भंग, विदेशी वस्तुओं और वस्त्रों का—विशेषतः ब्रिटिश वस्त्र और ब्रिटिश व्यापारियों का बहिष्कार, सरकार से आमतौर पर असहयोग और व्यवस्थापिका सभाओं का बहिष्कार। इस संघर्ष ने जनता की स्पष्ट नैतिक विजय करा दी जिससे उसमें आत्म-विश्वास उत्पन्न हो गया और साथ ही सत्याग्रह-अस्त्र में भी विश्वास जम गया। अन्त में जो समझौता हुआ उसके परिणाम-स्वरूप कांग्रेस ने गोलमेज परिषद् में भाग लेना स्वीकार कर लिया।

(४) स्वराज्य के लिए सत्याग्रह—१९३२-३४

वास्तव में यह आन्दोलन तो १९३० के आन्दोलन का ही एक सम्बद्ध रूप था—हाँ, बीच में नौ मास का व्यवधान अवश्य आ गया था जिसमें गाँधीजी लन्दन की गोलमेज परिषद् में भाग लेने चले गये और जिसका कोई सफल परिणाम नहीं निकला।

जिस गाँधी-इर्विन समझौते पर ४ मार्च १९३१ को हस्ताक्षर हुए थे, उसकी स्याही सूखने के पहले ही उसको भंग कर दिया। लार्ड इर्विन की जगह जब लार्ड विलिंगडन भारत के वाइसराय बनकर आ गये तो उन्होंने समझौते का कोई रुख नहीं दिखाया। जब गांधीजी लन्दन की गोलमेज परिषद् से लौटे तो उन्होंने भारत को आर्डिनेन्स-राज के अन्तर्गत पाया। प्रमुख कांग्रेसी गिरफ्तार किये जा चुके थे। यद्यपि गाँधीजी ने कांग्रेस का दृष्टि-कोण वाइसराय को समझाने का प्रयत्न किया, पर वाइसराय उसे स्वीकार करने को तैयार न हुए और सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन फिर जारी करना पड़ा। गाँधीजी और देश के कोई पन्द्रह हजार प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्त्ता चुन-चुन कर गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें बिना न्यायालय में विचार किये जेल में ठूँस दिया गया। कांग्रेस की सम्पत्ति जब्त करली गयी और कांग्रेस और उससे सम्बद्ध संस्थाएँ गैर-कानूनी घोषित कर दी गयीं। आर्डिनेन्स (काले कानून) का शासन चलने लगा जिसमें लाठी और डण्डे विशेष रूप में काम में लाये जाने लगे। शीघ्र ही देश के जेलखाने पूर्णतः भर गये—एक लाख से अधिक लोग उनमें पहुँच गये। दमन नृशंसता के साथ बराबर जारी रहा।

१२ सितम्बर १९३२ को देश ने सहसा यह समाचार सुना कि साम्प्रदायिक समझौते के सिलसिले में गाँधीजी आमरण-

अनशन करनेवाले हैं क्योंकि इस समझौते के द्वारा सरकार हरिजनों के लिए अलग चुनाव-क्षेत्र बनाने जा रही है। गाँधीजी ने २० सितम्बर को अनशन आरम्भ कर दिया और उसे तब भंग किया जब २६ सितम्बर को पूना-पैक्ट के द्वारा हरिजनों को संयुक्त निर्वाचन में ही रखने की बात मान ली गयी। सविनय अवज्ञा-आन्दोलन जारी ही रहा, पर अस्पृश्यता-निवारण की ओर अब विशेष गम्भीर रूप में ध्यान दिया गया। अन्त में १२ जुलाई १९३३ को पूने में कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की एक सभा हुई जिसमें सामूहिक सविनय-अवज्ञा का परित्याग करके केवल व्यक्तिगत सविनय-अवज्ञा आन्दोलन जारी रखने का निश्चय किया गया। सरकार के साथ समझौते के प्रयत्न विफल हो गये। ७ अप्रैल १९३४ को सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन स्थगित कर दिया गया।

(५) व्यक्तिगत सत्याग्रह—१९४०-४१

१९३४ से १९३९ तक का समय वह था जब कांग्रेस ने व्यवस्थापिका सभाओं में प्रवेश करने और जनता में रचनात्मक कार्य करने का निश्चय किया था। सितम्बर, १९३९ ई० में दूसरा विश्वव्यापी महायुद्ध आरम्भ हो गया। ब्रिटेन ने बिना भारत से सलाह लिये उसकी ओर से भी युद्ध की घोषणा कर दी। इससे कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को पदत्याग करने का अवसर मिल गया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह अपने ढंग का निराला था। इंग्लैंड जिस जीवन-मृत्यु के संघर्ष में व्यस्त था और कांग्रेस ने परेशान न करने की जिस सामान्य नीति का अनुसरण कर रखा था उसे देखते हुए ही सत्याग्रह का रूप निश्चित करना था। गाँधीजी ने इस आन्दोलन का श्रीगणेश करते हुए कहा कि

प्रतीक्षा करने का गुण अब दुर्गुण के रूप में परिवर्त्तित होता जा रहा है। ब्रिटेन को अनेक विकल्प सुझाये गये। भारत को स्वतन्त्र घोषित करने को कहा गया, पर ब्रिटेन ने इस सवाल को टाल दिया। यह भी कहा गया कि भारत को एक विधान-परिषद् के द्वारा तैयार किया हुआ विधान प्रदान किया जाय। इस विचार को हँसकर उड़ा दिया गया। यह भी कहा गया कि यदि भारत को स्वतन्त्र मान लिया जाय तो वह युद्ध में ब्रिटेन को पूरा सशस्त्र सहयोग दे सकता है। इसे भी अस्वीकार कर दिया गया। आत्मदमन का अभ्यास उस हद तक तो अच्छा था जब तक कि वह उत्साह कायम रखने में मदद देता रहा, पर जब यह नौबत आयी कि वह तो उत्साह को ही समाप्त कर देगा तो फिर वह आत्मदमन दुर्गुण बन गया। गाँधीजी ने कहा—"मैं केवल कांग्रेस की ओर से नहीं बोल रहा हूँ, पर उन सभी की ओर से कह रहा हूँ जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—विशुद्ध स्वाधीनता चाहते हैं। यदि मैं अब यह कह दूँ कि 'ब्रिटेन को परेशान नहीं किया जायगा।...' तो मैं झूठा बनूँगा, इसलिए यदि मैं आत्मदमन का प्रयोग इस नाजुक मौके पर करता हूँ तो वह आत्मघातक सिद्ध होगा।" उन्होंने आगे चलकर कहा—"हम चुपचाप नहीं बैठ सकते। यह सत्याग्रह नहीं है कि हम लोगों को वाणी-स्वातन्त्र्य के अधिकार का उपयोग करने के अपराध में जेल जाते देखें। यदि हम इसी तरह देखते रहे तो कांग्रेस का नाम मिट जायगा और उसके साथ ही राष्ट्रीय जोश भी समाप्त हो जायगा।

व्यक्तिगत सत्याग्रह को गाँधीजी ने असन्तोष प्रकट करने का अत्यन्त उपयुक्त ढंग बताया। कांग्रेस की यह युक्ति थी कि भारत को "अहिंसात्मक ढंग से युद्ध-विरोधी प्रचार खुले रूप में

करने देना चाहिए" और "उसे युद्ध-प्रयत्न में सरकार से असहयोग करने का उपदेश देना चाहिए।"

२७ सितम्बर १९४० को गाँधीजी ने वाइसराय से मुलाकात की, पर वाइसराय ने उनकी यह बात नहीं मानी कि कांग्रेस को युद्ध-नीति का उपदेश अहिंसात्मक ढंग से देने का वाणी-स्वातंत्र्य दिया जा सकता है या लोगों से यह कहने की छूट दी जा सकती है कि वे युद्ध-प्रयत्न में इसलिए सहायता न दें कि सभी युद्ध बुरे और संहारात्मक होते हैं। वाइसराय ने कहा कि वह भारत के कांग्रेसियों को उतनी ही स्वतन्त्रता दे सकते हैं जितनी ब्रिटेन में विवेकशील युद्ध-विरोधियों को प्राप्त है; उससे अधिक नहीं।

इसके बाद सत्याग्रह-संग्राम का श्रीगणेश हुआ। गांधीजी ने बड़े कठोर नियम प्रस्तुत किये और एक प्रतिज्ञापत्र तैयार किया। इस अवसर पर वह 'क़िस्म' या प्रकार के पक्ष में थे (संख्या के नहीं)। संघर्ष का समारम्भ १७ अक्टूबर १९४० को पौनार में हुआ और गाँधीजी ने इसके लिए सर्व-प्रथम सत्याग्रही विनोबा भावे को चुना जिन्होंने एक भाषण में कांग्रेस की युद्ध-नीति का परिचय देते हुए जनता को उपदेश दिया कि वह युद्ध-प्रयत्न में सहायता न दे क्योंकि सभी युद्ध अनैतिकतापूर्ण और बुरे होते हैं। चार दिन भाषण देने के पश्चात् विनोबाजी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें तीन मास कैद की सजा दे दी गयी।

इसके पश्चात् गांधीजी ने चुने हुए कांग्रेसवादियों को पैदल प्रचार करते हुए दिल्ली जाने का आदेश किया। कांग्रेसी कार्य-कर्त्ता सैकड़ों की संख्या में रवाना हुए, पर उन्हें अपने प्रान्त की सीमा तय करने के पहले ही गिरफ्तार करके सजाएँ दे दी गयीं।

बाद में गांधीजी ने यह निर्देश किया कि व्याख्यान और वक्तव्य देने के बदले सत्याग्रहियों को यह पुकार लगानी चाहिए कि ब्रिटेन को युद्ध प्रयत्न में धन-जन की सहायता देना गलती है और सभी तरह के युद्धों का प्रतिरोध करने के लिए अहिंसा ही सबसे अच्छा मार्ग है। इस मामले को लेकर कोई तीस हजार व्यक्ति जेल गये। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि कांग्रेस के जो प्रतिनिधि केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों अथवा जिला बोर्ड एवं म्युनिसिपेलिटियों या कांग्रेसी संस्थाओं तथा सार्वजनिक जीवन में थे वे सभी इस संघर्ष में जेल के अन्दर पहुँच गये। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के ११ सदस्य, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के १७६ सदस्य, २६ भूतपूर्व मंत्री (मिनिस्टर), २२ केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य और ४०० प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य जेल चले गये। यह संग्राम १९४१ ई० के अन्त तक चलता रहा। जब जापान का भारत पर आक्रमण निकट आ गया तो सरकार ने इन सत्याग्रहियों को इस आशा से छोड़ दिया कि वह इस प्रकार उनसे युद्ध-प्रयत्न में सहयोग प्राप्त कर सकेगी।

(६) 'भारत-छोड़ो'--१९४२-४४

दिसम्बर १९४१ में जापानी वायुयानों ने पर्ल हार्बर पर आक्रमण करके अमेरिका को भी युद्ध में सम्मिलित होने के लिए बाध्य कर दिया। किन्तु जापानी सैनिकों ने अविश्वासजनक द्रुतवेग से प्रशान्त महासागर के टापुओं में प्रसार प्राप्त कर लिया। वे बर्मा होकर आगे बढ़ रहे थे और जापानी बम भारत-भूमि पर गिर चुका था। ब्रिटेन की प्रतिष्ठा निम्नतम अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी।

ऐसे समय पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स अपने प्रस्ताव लेकर

भारत आये, जो सभी दलों द्वारा इसलिए अस्वीकृत कर दिये गये कि उन में कोई सार नहीं था। क्रिप्स क्रोध और कटुता लेकर भारत से विदा हुए, और बृटेन-विरोधी भावना उच्चतम अवस्था को पहुँच गयी। गांधीजी ने देखा कि यदि भारत को अपनी रक्षा करनी है तो उसके लिए दूसरा मार्ग तैयार है। उनका खयाल था कि उसे बृटिश साम्राज्यवाद के दुर्बलताजनक प्रभाव से अवश्य ही अपना पिण्ड छुड़ा लेना चाहिए। उन्हें संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं के भारत में होने पर कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु उनका कहना था कि वे स्वतन्त्र भारत की स्वीकृति से ही उस भूमि पर रह सकती हैं।

जुलाई १९४२ में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव पास करके ब्रिटेन से भारत छोड़ जाने की विनय की। प्रस्ताव में कहा गया था कि यदि इस अपील पर ध्यान नहीं दिया गया तो कांग्रेस अनिच्छापूर्वक इस बात पर बाध्य हो जायगी कि वह गांधीजी के नेतृत्व में सारी अहिंसात्मक शक्ति भारत के राजनीतिक अधिकार और स्वतन्त्रता के संरक्षण में लगा देगी। बम्बई में ७-८ अगस्त को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की जो बैठक हुई उसने इस कार्यवाही पर अपनी मुहर लगा दी और साथ ही निश्चय किया कि वह भारत को अपनी स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की रक्षा का जो अविच्छेद्य अधिकार है उसे स्वीकार करते हुए एक व्यापकतम पैमाने का सामूहिक संघर्ष आरम्भ करने का निश्चय करती है जिससे देश अपनी उस सारी अहिंसात्मक शक्ति का उपयोग कर सके जो उसने गत २२ वर्ष के शान्तिपूर्ण संघर्ष द्वारा प्राप्त की है। उसने यह घोषणा की कि उस प्रकार का संघर्ष अनिवार्य रूप से गांधीजी के ही नेतृत्व में संचालित हो।

दूसरे दिन का प्रभात आने के पहले ही गाँधीजी और

कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सभी सदस्य गिरफ्तार कर लिए गए। एक सप्ताह के अन्दर ऐसे सभी लोग जेल में पहुँच गए जिनका कि कांग्रेस में कोई भी महत्व था। इसके बाद आर्डिनेन्स का शासन शुरू हुआ—गोली-काण्ड, लाठी-प्रहार, यहाँ तक कि हवाई जहाजों से बमबार्जी तक भी कुछ स्थानों पर होने की रिपोर्टें मिलीं। कुछ स्थानों पर लोगों ने हताश होकर आक्रमणों का जवाब भी दिया, रेलवे और पुलिस पर हमले भी किए। सरकारी रिपार्ट के अनुसार सामूहिक कोप के फलस्वरूप ५६ व्यक्ति मरे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस संघर्ष में २००० से अधिक निहत्थे और निरपराध लोगों को गोली से उड़ा दिया गया और लगभग ६००० को पुलिस और फौज ने घायल किया। लाठी-प्रहार से घायल हुए लोगों की संख्या कितने ही दस-सहस्रों तक पहुँची। लगभग डेढ़ लेख स्त्री-पुरुष जेल गए और १५ लाख रुपये सामूहिक जुर्माने के रूप में वसूल किए गए। पुलिस और फौज के द्वारा पहुँचायी गयी यंत्रणाओं और घरों को जलाने, लूटने तथा अन्य क्रूरताओं का कोई लिखित प्रमाण नहीं मिल सकता।

यह संघर्ष जो ५ मई, १६४४ तक जारी रहा, वस्तुतः एक विशिष्ट आन्दोलन था और भूतकालीन इतिहास में इसका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। थोड़े-से छिट-फुट हिंसात्मक कृत्य उस सामूहिक जागृति और जनपदीय क्रान्ति को अपदस्था नहीं कर सकते जिसे सारे भारत में मुख्यतः अहिंसात्मक ढंग से जनता ने स्वयं संचालित किया था। गाँधीजी के हाथों में (उनके जेल से बाहर होने की अवस्था में) यह आन्दोलन क्या रूप धारण करता, यह अनुमान का विषय है। किन्तु उनका पथ-प्रदर्शन न होने पर भी—यही नहीं, किसी भी उच्च श्रेणी के नेता का पथ-प्रदर्शन न होते हुए भी, यह संघर्ष दृढ़तापूर्वक

जारी रहा और इसने अन्तिम विजय का मार्ग प्रशस्त किया। 'भारत-छोड़ो'-आन्दोलन यदि सत्याग्रह के नहीं, तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय के रूप में कायम रहेगा।

सहायक-ग्रन्थ

१—'दक्षिण अफ्रीका का इतिहास'

लेखक—मो० क० गाँधी

२—'चम्पारन का सत्याग्रह'

लेखक—डा० राजेन्द्रप्रसाद

३—'बारडोली की कहानी'

लेखक—महादेव देसाई

४—'सत्याग्रह : उसका इतिहास और विशिष्टि ज्ञान'

लेखक—रंगनाथ दिवाकर

५—'सत्याग्रह : शक्ति और सत्य'

(उपर्युक्त पुस्तक का अमेरिकन संस्करण

लेखक—श्री रंगनाथ-दिवाकर

६—'उद्देश्य और साधन'

लेखक—आलड्स हक्सले

७—'महात्मा गाँधी'

लेखक—रोम्यां रोलाँ

८—'आत्मकथा'

लेखक—मो० क० गाँधी

९—'धर्मयुद्ध' (गुजराती)

लेखक—महादेव देसाई

१०—'तमसोमां ज्योतिर्गमय'

लेखक—विन्सेण्ट शीन

रंगनाथ दिवाकर

सत्याग्रह और विश्व-शान्ति के लेखक श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर गांधीजी के [illegible] अनुयायियों [illegible]

[illegible]

[illegible]